डा. जयकिशनप्रसाद

साहित्य-दर्पण

आलोचनात्मक अध्ययन

साहित्यदर्पण

[आलोचनात्मक अध्ययन]

लेखक

डॉ० जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल

एम० ए०, पी-एच० डी०,

संस्कृत विभाग

राजा बलवन्तसिंह कॉलेज, आगरा

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

प्रकाशक

विनोद पुस्तक मन्दिर

कार्यालय : रांगेय राघव मार्ग, आगरा-२

बिक्री-केन्द्र : हॉस्पिटल रोड, आगरा-३

प्रथम संस्करण : १९७५

मूल्य : ५·००

कम्पोजिंग : पुष्पा प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२

मुद्रण : कैलाश प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२

[१५/१२/७४]

आद्य मिताक्षर

संस्कृत काव्यशास्त्र में महान् आचार्यों की परम्परा में आचार्य विश्वनाथ नाम आता है। उनका साहित्यदर्पण एक महत्त्वपूर्ण काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ । उन्होंने मम्मट के काव्यप्रकाश की विशेष रूप से समीक्षा की है। आचार्य श्वनाथ रसवादी आचार्य हैं। उन्होंने अपनी काव्य की परिभाषा को परिपुष्ट ने के लिए तदनुरूप काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का निरूपण किया है।

आगरा तथा अन्य विश्वविद्यालयों की उच्चस्तरीय संस्कृत की परीक्षाओं साहित्यदर्पण पाठ्यक्रम में निर्धारित है किन्तु इस पर अद्यतन कोई मीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया गया। प्रस्तुत आलोचनात्मक अध्ययन त्रों एवं परीक्षार्थियों की सुविधा के लिए विद्वानों की सम्मतियों के उद्धरण हुए प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। आशा है काव्यशास्त्र के ध्येता इससे लाभान्वित होंगे। काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण का तुलनात्मक ध्ययन भी यथोचित मात्रा में प्रस्तुत किया है। विद्वानों द्वारा सुझाए गए शोधनों के लिए लेखक अनुगृहीत रहेगा।

दिसम्बर, १९७४
२४० बेलनगंज
गरा–४

विनम्र
जयकिशनप्रसाद

विषय-सूची

साहित्यदर्पण

आचार्य विश्वनाथ का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

प्रश्न १—साहित्यदर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय दीजिए।

अथवा

"विश्वनाथ आलंकारिक होने की अपेक्षा कवि अधिक थे।" पं० बलदेव उपाध्याय के इस कथन की विवेचना कीजिए।

उत्तर—विश्वनाथ कविराज १३ वीं-१४ वीं शताब्दी के संस्कृत के कवि एवं काव्यशास्त्री या आलंकारिक हैं। अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य से उनका समय १३वीं १४वीं शती में ही सिद्ध होता है। विश्वनाथ कविराज 'उत्कल' प्रदेश के निवासी थे। साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्रति १३८४ ई० की मिली है, जिससे विश्वनाथ का १३८४ ई० से पूर्व होना सिद्ध होता है। श्वनाथ ने जयदेव (१११६ ई०) के गीतगोविन्द की एक सूक्ति उद्धृत की , अतः वे उनके परवर्ती हैं। उन्होंने १२००–१२५० ई० के प्रसन्नराघव का नी एक उद्धरण प्रस्तुत किया है। कविराज ने साहित्यदर्पण में १३वीं शती के धर्मदत्त की एक सूक्ति उद्धृत की है। इससे उनका कालनिर्णय १३वी १४वीं शती ही सिद्ध होता है। पन्द्रहवीं शताब्दी के ग्रन्थों में साहित्यदर्पण का उल्लेख मिलता है।

परिचय—कविराज विश्वनाथ ने अपने पूर्वजों का परिचय साहित्यदर्पण में यत्र-तत्र प्रस्तुत किया है। उनके पूर्वज 'उत्कल' के 'कविपण्डित' होते आए हैं। विश्वनाथ के प्रपितामह का नाम कविपण्डितप्रवर 'नारायण' था। वे हित्यशास्त्र के पारगंत विद्वान् और अलंकारशास्त्र के ग्रन्थ प्रणेता थे। का साहित्यशास्त्र पर असाधारण अधिकार था। विश्वनाथ के पिता कवि

पण्डित चन्द्रशेखर थे। उनकी दो कृतियों का उल्लेख साहित्यदर्पण में मिलता है—'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव।' 'पुष्पमाला' का उद्धरण षष्ठ परिच्छेद में है—

द्वादशपदा (नान्दी) यथा मम तातपादानां पुष्पमालायाम् ॥६।२५॥

इसी प्रकार भाषार्णव का उल्लेख भी इसी अध्याय में इस प्रकार है—

भाषा लक्षणानि मम तातपादानां भाषार्णवे ॥६।१६६

विश्वनाथ के अनेक विरुद थे, जिनमें से सात का उल्लेख उनके साहित्य-दर्पण के परिच्छेदों की समाप्ति में उनके नाम के साथ हुआ है—

नारायण चरणारविन्द मधुव्रत, साहित्यार्णवकर्णधार ध्वनि प्रस्थापनपरमाचार्य, कविसूक्तिरत्नाकर, अष्टादश भाषावारविलासिनी भुजङ्ग, संधिविग्रहिक और महापात्र। इनमें 'अष्टादश भाषावारविलासिनी भुजङ्ग' का विरुद यह प्रमाणित करता है कि विश्वनाथ को संस्कृत के अतिरिक्त अन्य समस्त प्राकृत भाषाओं का अध्ययन एक पैतृक देन के रूप में मिला था। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में अपने पिता श्री चन्द्रशेखर कविपण्डित की चार सूक्तियाँ (३।५८, ८२,२०७,२१३) उद्धृत की हैं, जिससे इनके पिता का एक रसिक शृङ्गार प्रधान कवि होना सिद्ध होता है। विश्वनाथ के पिता कलिङ्ग राज्य के एक प्रतिष्ठित राज्याधिकारी थे। सम्भवतः वे 'सन्धिविग्रहिक थे और विश्वनाथ भी अपने पिता के अनन्तर कलिङ्गराज के 'महापात्र' बने।

कविराज विश्वनाथ वैष्णव धर्मावलम्बी थे। उनके साहित्यदर्पण के अन्त-मंगलश्लोक में श्रीविष्णु की वन्दना है।

महान् कवि एवं काव्यशास्त्री—कविराज विश्वनाथ अपने समय के उत्कल प्रान्त के रसिक शिरोमणि कवि थे। रसिकता विश्वनाथ के व्यक्तित्व की बहुत बड़ी विशेषता है। इसीलिए उन्हें 'कविसूक्तिरत्नाकर' की उपाधि मिली थी। साहित्यदर्पण में विश्वनाथ की एक सूक्ति में उनका वर्णों के संमोहक संगीत, का प्रगाढ़ ज्ञान एवं 'वर्णों की माधुरी' का प्रेम स्पष्ट व्यक्त हुआ है। वह सूक्ति इस प्रकार है—

लता कुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलयन्।
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्।
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्द तरलयन्।
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥ (८।३)

विश्वनाथ कविराज का कवित्वमय व्यक्तित्व था, जिसका प्रभाव साहित्य-दर्पण पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उनका रामकथा को महाकाव्य के रूप में निबद्ध महाकाव्य 'राघवविलास' के नाम से प्रसिद्ध है।

विश्वनाथ कविराज ने प्राकृत भाषा में 'कुवलयाश्व चरित' नामक काव्य की रचना की है, जिसका एक उद्धरण उन्होंने साहित्यदर्पण (३.१४८) में 'जड़ता' के प्रसंग में प्रस्तुत किया है। अनुमान है कि यह काव्य शृङ्गार रस प्रधान काव्य रहा होगा। विश्वनाथ ने एक '**प्रभावती परिणय**' नामक नाटिका भी लिखी है, जिसमें शृङ्गार रस प्रधान है। उन्होंने साहित्यदर्पण (३।९६) में अपनी 'चन्द्रकला' नाटिका का स्मरण भी किया है। इस नाटिका में विश्वनाथ का नायिका-भेद विज्ञान और शृङ्गार रस-प्रेम व्यक्त हुआ है। विश्वनाथ ने अपनी 'प्रशस्तिरत्नावली' में १६ भाषाओं में कलिंग नरेश की प्रशस्तियाँ लिखी हैं। कलिङ्ग नरेश नरसिंह के विजय गौरवगान के रूप में विश्वनाथ ने 'नरसिंह विजय' नामक काव्य की रचना की है। विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' की रचना करने के बाद मम्मट के काव्यप्रकाश की व्याख्या 'काव्यप्रकाशदर्पण' नाम से प्रस्तुत की।

विश्वनाथ कविराज की रचनाएँ—

(१)	साहित्यदर्पण	काव्यशास्त्र का ग्रन्थ	(उपलब्ध)
(२)	काव्यप्रकाशदर्पण	काव्यप्रकाश की व्याख्या	(उपलब्ध)
(३)	राघव विलास	संस्कृत महाकाव्य	(अप्राप्य)
(४)	कुवलयाश्वचरित्र	प्राकृत काव्य	(")
(५)	प्रभावती परिणय	नाटिका	(")
(६)	चन्द्रकला	नाटिका	(")
(७)	प्रशस्तिरत्नावली	१६ भाषाओं में प्रशस्तियाँ	(")
(८)	नरसिंह विजय	संस्कृत काव्य	(")

विश्वनाथ कविराज का साहित्यदर्पण अलंकार शास्त्र का प्रस्थान ग्रन्थ न होते हुए भी काव्य साहित्य सम्बन्धी समस्त विषयों का एकत्र प्रतिपादन करने के कारण अत्यन्त लोकप्रिय अलंकार ग्रन्थ बन गया है। इसकी सुबोधता ही इसकी लोकप्रियता का कारण है।

पं० बलदेव उपाध्याय ने 'संस्कृत आलोचना' ग्रन्थ में विश्वनाथ के साहित्यदर्पण के सम्बन्ध में लिखा है—"इनके अनेक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता

है, परन्तु इनकी प्रसिद्धि का स्तम्भ दीप है—साहित्यदर्पण जो अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है तथा आलोचनाशास्त्र के सिद्धान्तों के जिज्ञासु पुरुषों के लिए नितान्त उपयोगी है। इसमें दश परिच्छेद हैं जिनमें काव्य के तत्त्वों का विस्तृत वर्णन किया गया है। षष्ठ परिच्छेद में नाट्य का भी संक्षिप्त परन्तु प्रामाणिक विवरण देकर लेखक ने एक ही ग्रन्थ में काव्य तथा नाट्य दोनों का श्लाघ्य समीक्षण प्रस्तुत किया है। स्पष्टतः यह 'काव्यप्रकाश' की शैली पर लिखा गया है, परन्तु इसमें उतनी प्रौढ़ता कहाँ ? विश्वनाथ आलंकारिक होने की अपेक्षा कवि अधिक थे और इसीलिए सुन्दर उदाहरणों के उपन्यास से इस ग्रन्थ की रोचकता अधिक बढ़ गई है। विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदास की (साहित्यदर्पण की) टीका प्राचीन है, पर राम तर्क वागीश की टीका विशेष प्रसिद्ध है।"

अलंकारशास्त्र की परम्परा में साहित्यदर्पण का स्थान

प्रश्न २—अलंकारशास्त्र की परम्परा में साहित्यदर्पण का स्थान निर्धारित कीजिये।

उत्तर—अलंकारशास्त्र की परम्परा का प्रादुर्भाव भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से माना जाता है। इस परम्परा को गतिमान करने वाले सर्वप्रथम आलंकारिक आचार्य भामह हैं। इन्होंने काव्य का लक्षण इस प्रकार किया : शब्दार्थौ काव्यम्। इन्होंने भरत के द्वारा वर्णित दश गुणों का गुणत्रयी (माधुर्य, ओज तथा प्रसाद) में अन्तर्भाव किया है तथा दशविध दोषों का सुन्दर विवेचन किया है।

भामह के उपरान्त दण्डी ने 'काव्यादर्श' नामक अलंकारशास्त्र के ग्रन्थ की रचना की। यह अत्यन्त महनीय ग्रन्थ है। दण्डी सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने वैदर्भी तथा गौडी रीति के पारस्परिक भेद को स्पष्ट रूप से दिखाया है।

दण्डी के बाद वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र' ग्रन्थ की रचना की जिसमें काव्य की आलोचना सूत्रों में की गई है। आचार्य वामन रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं। इनका कथन है कि 'रीतिरात्मा काव्यस्य।' इनके कुछ विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—

(१) गुण तथा अलंकार का परस्पर विभेद तथा अलंकार की अपेक्षा गुण की अधिक महत्ता का प्रतिपादन।

(२) रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार करना।

(३) वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली—इन रीतियों की कल्पना।

(४) वक्रोक्ति को सादृश्यमूलक लक्षणा मानना।

(५) इस प्रकार के गुणों को शब्द तथा अर्थ उभयगत मानकर उनके बीस प्रकार की कल्पना।

(६) समग्र अर्थालङ्कारों को उपमा का प्रपंच मानना।

उद्भट का ग्रन्थ 'काव्यलंकार सार संग्रह' है। इसमें अलंकारों का विवेचन वैज्ञानिक ढङ्ग पर हुआ है। उद्भट ने अर्थ-भेद से शब्द भेद की कल्पना करके श्लेष के शब्द-श्लेष तथा अर्थ-श्लेष दो रूप प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने अन्य अलङ्कारों के योग में श्लेष की ही प्रबलता मानी है। उन्होंने वाक्य का तीन प्रकार से अभिधा व्यापार माना है और काव्यगुणों को संघटना का धर्म माना है। भामह के मूल ग्रन्थ के अनुपलब्ध होने से उद्भट का ग्रन्थ ही अलङ्कार सम्प्रदाय का प्रतिपादक, सर्वश्रेष्ठ तथा आदिम ग्रन्थ माना जाता है।

उद्भट के बाद रुद्रट का नाम आता है। इनका काव्यालंकार ग्रन्थ रस का विस्तार से वर्णन प्रस्तुत करता है। इसमें अलङ्कारों का वैज्ञानिक विभाजन तथा नवीन अलङ्कारों की उदभावना की गई है।

आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि सम्प्रदाय की उदभावना की है। इसके प्रथम उद्योत में ध्वनि के विषय में प्राचीन आलंकारिकों के मतों का विस्तृत समीक्षण है। द्वितीय तथा तृतीय उद्योत में ध्वनि के भेद-उपभेद का तथा उसकी स्थापना का प्रामाणिक विवरण है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि की उपयोगिता का विचार है।

आचार्य अभिनवगुप्त की साहित्यशास्त्र में प्रसिद्धि ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' के कारण है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की इनकी टीका 'अभिनव भारती' के नाम से प्रसिद्ध है। इन ग्रन्थों में अभिनवगुप्त का पाण्डित्य, पूर्ण एवं प्रखर रूप में मिलता है। रस-सिद्धान्त की इनकी व्याख्या पूर्ण मनोवैज्ञानिक, अन्तरंग तथा आवर्जक है।

आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति सम्प्रदाय के उदभावक तथा 'वक्रोक्ति जीवित' के लेखक हैं। वक्रोक्ति सिद्धान्त काव्यशास्त्र का निराला सिद्धान्त है।

महिम भट्ट ने ध्वनि को अनुमान के द्वारा सिद्ध किया है। इन्होंने व्यंजना वृत्ति की ध्वनि के लिए आवश्यकता नहीं मानी है। ध्वनिग्रन्थ के खण्डन के

लिए इन्होंने व्यक्ति विवेक नामक प्रौढ़ ग्रन्थ लिखा है, जिसमें 'लोचन' तथा 'वक्रोक्ति जीवित' के सिद्धान्तों का खण्डन किया है।

महिम भट्ट के समान ही धनंजय ने भी ध्वनिवाद का विरोध किया है। ये रस की उत्पत्ति के विषय में भावकत्ववादी हैं और व्यंजनावाद के खण्डन-कर्ता हैं। इनका ग्रन्थ 'दशरूपक' नाट्यशास्त्र का सुन्दर ग्रन्थ है।

भोजराज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' तथा 'शृङ्गार प्रकाश' की रचना की। शृङ्गार प्रकाश में शृङ्गार रस का विशद विवेचन है। 'सरस्वती कण्ठाभरण' अलङ्कारशास्त्र का दण्डी के काव्यादर्श से प्रभावित ग्रन्थ है।

मम्मट का 'काव्यप्रकाश' प्रसिद्ध है। इसमें ध्वनिविरोध का प्रामाणिक खण्डन हुआ है। काव्य-प्रकाश में ध्वनिमार्ग का जो विवरण प्रस्तुत किया वही आदर्श माना जाने लगा और उसी का अनुगमन परवर्ती आलंकारिकों के द्वारा हुआ। काव्यप्रकाश प्रस्थान ग्रन्थ के समान प्रौढ़ तथा मौलिक है। ध्वनिमार्ग का इससे सुन्दर विवेचन संक्षेप में मिलना कठिन है। काव्यप्रकाश पर सत्तर टीकाएँ लिखी गई हैं। स्वयं विश्वनाथ कविराज ने भी इसकी व्याख्या लिखी है।

क्षेमेन्द्र औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हैं। इनके 'औचित्यविचार चर्चा' तथा 'कण्ठाभरण' अलङ्कार शास्त्र के ग्रन्थ हैं।

रुय्यक ने काव्यप्रकाश की टीका लिखी। इनका 'अलङ्कार सर्वस्व' महत्त्व पूर्ण ग्रन्थ है। साहित्यदर्पणकार इनका विशेष ऋणी है। विश्वनाथ का अलंकार-वर्गीकरण एवं विवेचन रुय्यक से प्रभावित है।

हेमचन्द्र का साहित्यशास्त्र पर 'काव्यानुशासन' नामक ग्रन्थ है। इनके द शिष्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र अपने ग्रन्थ 'नाट्यदर्पण' के लिए प्रसिद्ध हैं। य नाट्यशास्त्र के विषयों को संक्षेप में प्रस्तुत करता है।

शारदातनय के ग्रन्थ का नाम भाव-प्रकाशन है। यह प्रधान रूप से नाट्य शास्त्र का ग्रन्थ है। इसमें रस के सम्बन्ध में कतिपय प्राचीन आचार्यों के मत का निर्देश है और अभिनवगुप्त के मत का भी सुन्दर एवं विशद निरूपण है।

पीयूषवर्ष जयदेव का 'चन्द्रलोक' अलङ्कारशास्त्र का एक अतीव सुन्द तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसका प्रभाव 'कुवलयानन्द' पर व्यापक रूप पड़ा है।

विश्वनाथ कविराज का सुप्रसिद्ध एवं लोकप्रिय ग्रन्थ साहित्यद

आलोचनाशास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए नितान्त उपयोगी है। इसकी रचना काव्यप्रकाश की शैली पर हुई है किन्तु यह उतना प्रौढ़ ग्रन्थ नहीं है। "विश्वनाथ आलंकारिक होने की अपेक्षा कवि अधिक थे और इसीलिए सुन्दर उदाहरणों के उपन्यास से इस ग्रन्थ की रोचकता अधिक बढ़ गई है।"

—(पं० बलदेव उपाध्याय)

विद्वत्वर डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है—"साहित्यदर्पण अलङ्कारशास्त्र का प्रस्थान ग्रन्थ नहीं और न इसमें ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और रसगंगाधर की प्रवाहपूर्ण, वैज्ञानिक और विचारात्मक शैली ही अपनायी गयी है। साहित्य-दर्पण की एक ही मौलिक विशेषता है और वह उसकी एक महत्त्वाकांक्षा है जिसका लक्ष्य काव्य-साहित्य-सम्बन्धी समस्त विषयों का एकत्र प्रतिपादन है। इस महत्त्वाकांक्षा में विश्वनाथ कविराज को पर्याप्त सफलता भी मिली है। वैसे इतना निश्चित है कि काव्य-साहित्य के समस्त विषय एक अलङ्कार-ग्रन्थ में नहीं आ सकते।

"साहित्यदर्पण कोई मौलिक अलङ्कार ग्रन्थ नहीं है, क्योंकि आदि से अन्त तक इसमें प्राचीन आलंकारिकों की ही मान्यताओं का प्रकाशन है और प्राचीन अलङ्कार ग्रन्थों के ही उदाहरणों के उद्धरण भरे पड़े हैं। किन्तु तब भी सरस और सरल भाषा के द्वारा विषय प्रतिपादन की शैली जैसी इसकी है वैसी दूसरे अलङ्कार-ग्रन्थों की नहीं।"

डा० सत्यव्रतसिंह ने साहित्यदर्पण की लोकप्रियता का कारण इसकी सुबोधता को बताया है। उनका कथन है कि "यदि साहित्यदर्पण न रचा गया होता तो भारत के पूर्वी प्रान्तों के संस्कृत काव्य-नाट्य-प्रेमी नाट्य-शास्त्र के विषयों से अपरिचित ही रहे जाते। मौलिक न होने पर भी, संग्रह-प्रधान होने पर भी, साहित्यदर्पण साधारण सहृदय सामाजिक के लिए वस्तुतः 'साहित्य-दर्पण' है जिसमें साहित्यशास्त्र के तत्त्व प्रतिबिम्बित हैं।" साहित्यदर्पण से साहित्यशास्त्र के विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद, इन विषयों के मौलिक ग्रन्थों का अनुशीलन लाभप्रद माना जाया करता है।

परवर्ती अलंकारशास्त्र पर प्रभाव

साहित्यदर्पण का परवर्ती अलंकार-शास्त्र पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है। विश्वनाथ कविराज के परवर्ती आचार्य जगन्नाथ हुए हैं। उनके 'रसगंगाधर' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ पर साहित्य-

दर्पण का व्यापक प्रभाव पड़ा है। पण्डितराज जगन्नाथ को विश्वनाथ के साहित्यदर्पण से काव्यशास्त्र के पुनरालोचन की प्रेरणा मिली है। साहित्यदर्पण-कार ने काव्य-लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'

पण्डितराज जगन्नाथ ने इस काव्यलक्षण की समीक्षा में अपना निम्न-लिखित काव्यलक्षण प्रस्तुत किया है—

रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

उन्होंने लिखा है—'यत्तु रसवदेव काव्यम् इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम् तन्न। वस्त्वलंकार प्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः महाकवि प्रदायस्याकुली भावप्रसङ्गात्। (रसगंगाधर १ म आनन)

विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में काव्य के दो ही प्रकार माने हैं—(१) ध्वनिकाव्य और (२) गुणीभूत व्यंग्यकाव्य। उन्होंने मम्मट द्वारा मान्य 'चित्रकाव्य' (अधम या अवरकाव्य) को मान्यता नहीं दी। इस सम्बन्ध में विश्वनाथ के तर्क की समीक्षा ही रसगंगाधरकार की चतुर्विध काव्य-भेद-मीमांसा की पूर्वपीठिका है। उनके चतुर्विध काव्य भेद इस प्रकार हैं— उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्य तथा अधम। ये चारों काव्य-प्रकार पण्डितराज की काव्यपरिभाषा से स्वभावतः संगत हैं, किन्तु विश्वनाथ के काव्य-लक्षण से काव्य-प्रकार का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। इसीलिए विश्वनाथ ने चित्रकाव्य की मान्यता का खण्डन किया है।

निष्कर्ष—इस प्रकार साहित्यदर्पण का परवर्ती अलंकारशास्त्र पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है और अलंकारशास्त्र के अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' की रचना साहित्यदर्पण के परिप्रेक्ष्य में हुई है। पण्डितराज को इस ग्रन्थ से प्रेरणा भी मिली है और उन्होंने इसमें विवेचित सिद्धान्तों की पर्याप्त समीक्षा भी की है। विशेष रूप से उन्होंने काव्य-लक्षण का संशोधन किया और काव्य प्रकार को चतुर्विध रूप में विवेचित किया।

अलंकारशास्त्र का प्रयोजन काव्य-प्रयोजन से अभिन्न

प्रश्न ३—आचार्य विश्वनाथ ने 'काव्य-प्रयोजन' में क्या नवीनता प्रस्तुत की है? स्पष्ट कीजिए।

अथवा

काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में साहित्यदर्पणकार के विचारों की विवेचना कीजिए।

अथवा

"विश्वनाथ ने कवि और सहृदय के अतिरिक्त आलंकारिक या काव्य-समीक्षक के लिए भी काव्य के प्रयोजनरूप चतुर्वर्ग प्राप्ति का उल्लेख किया है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

उत्तर—काव्य-प्रयोजन

काव्य कोरी कवि कल्पना नहीं है। उसकी रचना का कुछ न कुछ निश्चित प्रयोजन भी है। काव्य एक कर्त्तव्य-कर्म है और उसका उद्देश्य मानव जीवन की पूर्णता है। काव्य-प्रयोजन-विचार की परम्परा अलंकारशास्त्र की एक प्राचीनतम परम्परा है। सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी विचारधारा का प्रवर्तन करते हुए लिखा—

वेदविद्येतिहासानामाख्यान परिकल्पनम्।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।।

अर्थात् नाट्य सार्वजनिक मनोरंजन का एक साधन है और उन-उन विद्याओं, उन-उन ऐतिहासिक घटनाओं किंवा उन-उन विषयों की इतिवृत्त-कल्पना के द्वारा सबको आनन्दित करने के लिए है। और भी—

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।।१।११४

ब्रह्मा जी का कथन है कि मेरे द्वारा रचा हुआ यह नाट्य दुःख से पीड़ित, थके माँदे शोकसंतप्त बेचारे लोगों के लिए उचित समय पर विश्राम देने वाला है।

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेश जननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।१।११५

यह नाट्य धर्म, यश और आयु बढ़ाने वाला, हितकारी, बुद्धिवर्धक तथा लोकोपदेश का जन्मदाता होगा। इस नाटक में समस्त शास्त्र, शिल्प एवं विविध-प्रकार के कर्म एकत्र एवं सन्निविष्ट रहते हैं।

देवता तथा दानवों ने भी नाट्य देखकर पितामह ब्रह्मा से कहा था "हे महामते, आपके द्वारा विरचित यह नाट्य-रचना अत्यन्त सुन्दर है। यह यश, कल्याण, पुण्य तथा बुद्धि का विवर्द्धन करने वाली है—

अहो नाट्यमिद सम्यक् त्वया सृष्टं महामते।
यशस्यं च शुभार्थं च पुण्यं बुद्धि विवर्द्धनम् ।।४।१२

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि लोक में मानव दुःख-शोक से पीड़ित है, लोक के ताप-संताप की विश्रान्ति जिस कलात्मक उपाय से सम्भव है, वह उपाय है दृश्य काव्य। नाट्य-काव्य से प्राप्त सुख प्रारम्भ से अन्त तक रसमय रहा करता है। यह अलंकारशास्त्र की काव्य-प्रयोजन-सम्बन्धी भावना भरतमुमि से ही प्रारम्भ-होती है और संस्कृत साहित्यशास्त्र के साथ-साथ विकसित होती चलती है।

भरतमुनि के अनन्तर सर्वप्रथम आलंकारिक आचार्य भामह ने काव्य-प्रयोजन की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए लिखा—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्त्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥

अर्थात् सत्काव्य का निर्माण या अनुशीलन इन उद्देश्यों के लिए होता है—

१—चतुर्वर्ग सम्बन्धी शास्त्रों अथवा कलाओं में व्युत्पन्नता
२—यश:प्राप्ति और
३—प्रीति अथवा आनन्दानुभूति

आचार्य भामह ने 'चतुर्वर्ग सम्बन्धी शास्त्रों और कलाओं में व्युत्पन्नता' को जो काव्य के प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है, वह भी वस्तुतः नाट्याचार्य भरतमुनि के ही आधार पर किया है। भतरमुनि ने नाट्य के विषय-क्षेत्र का निरूपण करते हुए लिखा था—

न तज्ज्ञानंऽन तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न तत्कर्म न योगोऽसौ नाटके यन्न दृश्यते॥२१।१२२

अर्थात् कोई भी ज्ञान, कोई भी शिल्प, कोई भी विद्या, कोई भी कला अधिक क्या कहें, कोई भी कर्म ऐसा नहीं जो 'नाट्य' का विषय न बने।

आचार्य भामह ने काव्य का दूसरा प्रयोजन यश की प्राप्ति बताया है भरतमुनि ने इस प्रयोजन को निर्दिष्ट नहीं किया है। 'कीत्तिलाभ' के द्वारा भामह ने काव्य-कृति को लोक जीवन की एक उपयोगी कृति सिद्ध किया क्योंकि यश की प्राप्ति मनुष्य की प्रकृत्तियों की एक मूल प्रेरणा मानी गई है भारवि ने 'किरातार्जुनीयम्' में लिखा भी है—

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितु वरा।
निरुत्सुकानामभि योग भाजां समुत्सु के वाङ्कमुपैति सिद्धि॥

संस्कृत काव्य-साहित्य में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनके अनुसार काव्य का प्रयोजन यश का लाभ निरूपित किया गया है।

भामह ने 'प्रीति' को काव्य का तीसरा प्रयोजन माना है। भरतमुनि ने जिसे 'विनोद' और 'विश्राम' कहा है, वही भामह द्वारा निरूपित 'प्रीति' नामक तीसरा प्रयोजन है।

आचार्य वामन ने काव्य के दो प्रयोजन बताए—एक दृष्ट प्रयोजन अर्थात् प्रीति और दूसरा अदृष्ट प्रयोजन अर्थात् कीर्ति।

आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य का प्रयोजन प्रधान रूप से 'प्रीति' को माना है, किन्तु यह प्रीति काव्य-शास्त्र के सौन्दर्य-दर्शन से उत्पन्न 'प्रीति' नहीं है, वरन् यह प्रीति तो वस्तुतः काव्यार्थ तत्त्व के साक्षात्कार करने वाले सहृदयजन के हृदय की स्वाभाविक आनन्दाभिव्यक्ति है—

तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्। ध्वन्यालोक १/१

अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के काव्य-प्रयोजन-विचार का विशद विश्लेषण करते हुए यह विचार व्यक्त किये हैं, 'काव्य का परम प्रयोजन एक प्रकार की 'प्रीति' है। यह प्रीति उस सहृदय का आनन्द है जो काव्य में तन्मय हुआ करता है जिसकी हृदय-तन्त्री कवि की हृदय-तन्त्री के साथ झंकार किया करती है। चतुर्वर्ग की व्युत्पत्ति के लिए साधारण कवि या पाठक भले हुए काव्य में प्रवृत्त हों किन्तु महाकवि तो रसानुभूति के ही लिए काव्य की रचना करते हैं और वह काव्य भी सहृदय सामाजिक के रसास्वाद एवं काव्यानुशीलन का साधन बनता है—

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्।

काव्य से कीर्ति उसी को मिल सकती है, जो रससिद्ध हो। कीर्त्ति का भी फल आनन्द ही है। जिसे स्वर्ग कहा गया है।

आचार्य कुन्तक ने भी 'प्रीति' को ही काव्य का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन माना है, जिसका अभिप्राय सहृदय-हृदय का आह्लाद है। इसी प्रकार भोजराज के अनुसार भी 'कीर्त्ति' और 'प्रीति' ही काव्य के तात्त्विक प्रयोजन हैं।

कविः कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।

'प्रीति' का अभिप्राय काव्यार्थ तत्त्व की भावना से संभूत 'आनन्द' है।

आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में काव्य के षड् प्रयोजनों का निरूपण किया है—

(१) यश, (२) अर्थ, (३) व्यवहारज्ञान, (४) अनिष्ट निवारण, (५) सद्यः परनिर्वृत्ति और (६) कान्तासम्मित उपदेश।

मम्मट का कथन है कि उपर्युक्त छह उद्देश्य विशेषों के कारण काव्य की ओर प्रवृत्ति हुआ करती है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिर्वृत्तये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥१।२

मम्मट ने काव्य-प्रयोजन के निरूपण में समन्वय की भावना से काम लिया है। यह समन्वय ध्वनिवाद की दृष्टि से किया गया है। इस 'प्रयोजन-षटक' में 'सद्यःपरनिर्वृत्ति' वह अलौकिक काव्य-संभूत आनन्द है जो काव्य का परम प्रयोजन है। काव्य एक अलौकिक वस्तु है, अतः उसका रसास्वादरूप आनन्द भी अलौकिक है। मम्मट ने ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के ही काव्य-प्रयोजन-रहस्य का दर्शन एवं विवेचन किया है। साथ ही उन्होंने 'कान्तासम्मित उपदेश' (सरसोपदेश) रूपी आनुषङ्गिक प्रयोजन भी रखा है।

विद्वत्वर डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है—"यह सरसोपदेश रूप प्रयोजन ऐसा प्रयोजन है जो काव्य को मानव-जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध करता है। काव्य में जो कुछ भी है, वह अन्ततोगत्वा रसाभिव्यक्ति में ही समन्वित होता है और यह रसाभिव्यक्ति सहृदय सामाजिक की क्षणिक मनःतुष्टि नहीं अपितु मानव-जीवन के आदर्शों की एक अलौकिक साधना है। काव्य के द्वारा जिन जीवनादर्शों की व्याख्या की जाया करती है, उसके प्रति काव्य-सामाजिक का स्वाभाविक अनुराग रहा करता है। लौकिक अथवा वैदिककर्म-क्षेत्र में कर्त्तव्य और राग परस्पर लड़ते-भिड़ते रह सकते हैं किन्तु काव्य-क्षेत्र में कर्त्तव्य और राग, अपने पारस्परिक भेद-भाव को भुलाये, एक दूसरे के सहायक रूप से रहा करते हैं। वेदादि शास्त्र और इतिहास-पुराण बुद्धि को प्रभावित कर कर्त्तव्य भावना को जाग्रत किया करते हैं किन्तु काव्य हृदय को प्रभावित कर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सरस विश्लेषण किया करता है। जहाँ वेद द्वारा उपदिष्ट कर्मभावना में आज्ञा की कठोरता अथवा पुराण द्वारा निर्दिष्ट कर्म-साधना में अनुज्ञा की आपेक्षिक कोमलता है, वहाँ काव्य द्वारा अभिव्यक्त 'रामादिवद् वर्तितव्यम्, न रावाणादिवत' की कर्त्तव्य भावना मानव-हृदय की स्वाभाविक अनुरक्ति की प्रेरणा है।"

काव्य का उद्देश्य रसास्वाद ही नहीं वरन् मानव के ज्ञान-विज्ञान का अमृत निष्यन्द है, वास्तविक जीवन की सरस व्याख्या है। इसकी आनन्दात्मक अनुभूतियाँ जीवन को सफल जीवन बनाने में एक अनूठापन रखती हैं और इसे काव्य का 'कान्तासम्मित उपदेश योग' कहते हैं। इस प्रकार आनन्द और आनन्दानुषक्त कर्त्तव्य-भावना ही मम्मट के अनुसार काव्य का पारमार्थिक प्रयोजन है। मम्मट ने काव्य के व्यावहारिक प्रयोजनों में यशलाभ, अर्थलाभ, व्यवहारज्ञान एवं अशिव से रक्षा माने हैं। शिवेतरक्षति का सम्बन्ध स्तोत्र-काव्यों से है।

आचार्य विश्वनाथ का काव्यप्रयोजन-विचार

विश्वनाथ कविराज ने सर्वप्रथम काव्य और काव्यालोचना के एकरस प्रयोजन अथवा उद्देश्य का विचार विमर्श किया है। साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद में ही उन्होंने लिखा है—'अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह।'

इस पृष्ठभूमि के अनन्तर कविराज ने पुरुषार्थचतुष्ट्य की प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन माना है—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥१।२।

अर्थात् काव्य एक ऐसी वस्तु है जिससे अल्पबुद्धि मानव को बिना किसी कष्ट-साधना के, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्ट्य की प्राप्ति हुआ करती है।

चतुर्वर्ग प्राप्ति रूप काव्य प्रयोजन का तात्पर्य बताते हुए कविराज विश्वनाथ ने लिखा है, 'चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादि कृत्या कृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैत।'

अर्थात्—'पुरुषार्थचतुष्टय-प्राप्तिरूप काव्य प्रयोजन वस्तुतः सर्वविदित है क्योंकि यह सभी जानते हैं कि काव्य उपदेश दिया करता है—'राम के जैसा आचार-व्यवहार बनाओ, रावण के जैसा आचार व्यवहार न बनाओ'—काव्य का यह उपदेश 'कृत्य'—धर्मादिरूप कर्त्तव्य-कर्म की ओर हमारी प्रवृत्ति और 'अकृत्य' अधर्मादिरूप अकर्तव्य अकर्म की ओर से हमारी निवृत्ति का कारण है और इस प्रकार चतुर्वर्गप्राप्ति का अन्यतम उपाय है। इसीलिए तो भामह ने कहा है कि 'सत्काव्य का अनुशीलन अथवा निर्माण एक ऐसी वस्तु है जिससे

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का तात्त्विक ज्ञान हुआ करता है, कलाओं
व्युत्पति बढ़ा करती है, विदग्ध अथवा सहृदय होने का सुयश मिला करता
और उसकी प्राप्ति हुआ करती है जिसे हृदय का आह्लाद कहा जाता है।'

काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति

(१) **धर्म की प्राप्ति**—काव्य से धर्म प्राप्ति सिद्ध ही है, क्योंकि स्तो
काव्य-रचना द्वारा भगवान् विष्णु के चरणारविन्द की स्तुति धर्म का
लाभ है।

(२) **अर्थ की प्राप्ति**—काव्य से अर्थ की प्राप्ति भी सिद्ध ही है। कवि
को आश्रयदाताओं से पुरस्कार रूप अर्थ की प्राप्ति होती ही रही है।

(३) **काम की प्राप्ति**—काव्य से कामरूप पुरुषार्थ की सिद्धि इसलि
सम्भव है क्योंकि जब काव्य से अर्थ लाभ हुआ, तो उसके द्वारा काम सुख
आश्य ही प्राप्त होगा।

(४) **मोक्ष की प्राप्ति**—काव्य के द्वारा सहृदय सामाजिक के हृदय में
अनासक्ति योग की भावना भरी जाया करती है, जो काव्य-सम्भूत धर्मादि-फ
भोग के प्रति स्वाभाविक है, क्योंकि अनासक्ति योग ही मोक्ष-प्राप्ति है। का
हममें मोक्ष-शास्त्र सम्बन्धी विषयों की व्युत्पत्ति उत्पन्न किया करता है।

काव्य परमानन्द संदोह रस का जनक होने से इससे पुरुषार्थ चतुष्टय
प्राप्ति एक सुखद साधना है और कोमल बुद्धि लोगों के भी वश में है।

विश्वनाथ के प्रतिपादन का वैशिष्ट्य—मम्मट ने काव्य के प्रयो
षट्क का प्रतिपादन किया था किन्तु साहित्यदर्पणकार ने मम्मट के प्रयोज
षट्क की समीक्षा में काव्य और काव्यालोचन के पुरुषार्थ प्राप्ति रूप सम
प्रयोजन का निष्कर्ष निकाला है। वैसे तो मम्मट-निर्दिष्ट 'षट्प्रयोजना' में
पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति का रहस्य समाया हुआ है और इस दृष्टि से मम
प्रतिपादित प्रयोजन-षट्क का खण्डन नहीं हो सकता। कविराज विश्वनाथ
मम्मट द्वारा प्रतिपादित प्रयोजन-षट्क को स्पष्टता प्रदान की है।

विश्वनाथ के प्रयोजन—प्रतिपादन की एक विशेषता और है। प्रा
अलङ्कारशास्त्र में 'शास्त्र' के अधिकारियों और 'काव्य' के सामाजिकों में
बौद्धिक भेद-भाव नहीं बताया गया है। किन्तु विश्वनाथ ने इन दोनों में
स्वीकार किया है। उन्होंने 'शास्त्र' के अधिकारियों को 'परिणतबुद्धि'
'काव्य' के सामाजिकों को 'सुकुमारबुद्ध' मानकर दोनों के व्यक्तित्व का

स्वीकार किया है। यह भेद-निरूपण एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। शास्त्र के अधिकारी बहिर्मुखी वृत्ति वाले और कवि अथवा सहृदय अन्तर्मुखी वृत्ति वाले होते हैं।

अग्निपुराणकार के मत को उद्धृत करते हुए कविराज विश्वनाथ ने अपने मत की प्रामाणिकता सिद्ध की है। अग्निपुराण में काव्य की उपयोगिता इस प्रकार वर्णित है—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥३२७।३

अर्थात् 'संसार में पहले तो मानव-जन्म ही दुर्लभ है, इससे भी दुर्लभ विद्यालाभ है और उससे भी दुर्लभ है कवित्व और जिसे कवि-प्रतिभा कहते हैं, वह तो अत्यन्त दुर्लभ है।' नाट्य एक ऐसी वस्तु है जिससे धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थ की प्राप्ति हुआ करती है। काव्य की उपयोगिता के सम्बन्ध में साहित्यदर्पणकार ने विष्णुपुराण की निम्नांकित कारिका उदधृत की है—

काव्यालापाश्च ये केचिद्गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः ॥

अर्थात् 'समस्त काव्य-साहित्य किंवा समस्त संगीत वस्तुतः शब्दमूर्ति भगवान् विष्णु के ही अंश हैं।'

इस प्रकार कविराज विश्वनाथ ने काव्य प्रयोजन की प्रामाणिकता के लिए अग्निपुराण और विष्णुपुराण के उद्धरण प्रस्तुत करते हुए काव्य के प्रयोजन का तिपादन सम्पन्न किया है। उनका यह प्रतिपादन मौलिक है। उनका निष्कर्ष कि 'कवि' और 'काव्यरसिक' एक जन्म में कोई नहीं बन पाता। कविता ौर रसिकता को विशिष्ट व्यक्तियों की आत्मिक शक्ति मानना ही उचित है। सी मान्यता की पुष्टि उन्होंने अग्निपुराण की उपर्युक्त सूक्ति से की है जिसका भिप्राय यही है कि कई जन्मों के बाद प्राणी को मानव शरीर मिलता है ोर इसके बाद भी कई जन्म विद्याभ्यास में बीत जाते हैं और पुनः कई जन्मों कोई विद्वान् कविता करने की योग्यता अर्जित करता है और कवित्व-शक्ति प्राप्ति में भी कई जन्म बीत जाय तो सन्देह ही क्या है। इससे काव्य की ता एवं उपादेयता सहज ही सिद्ध हो जाती है। शास्त्र से चतुर्थवर्ग प्राप्ति ाध्य एवं सभी के लिए सम्भव नहीं है। काव्य का स्वरूप आनन्दात्मक होने चतुर्वर्ग की प्राप्ति सुखसाध्य है। वेदादिशास्त्र तो मानव-जीवन के ताप-

सन्ताप को दूर करने के लिए 'कड़वी औषध' हैं, किन्तु काव्य वह 'मीठी खांड' है जिसके आस्वाद से ही ताप-सन्ताप अनायास शान्त हो जाते हैं।

कविराज विश्वनाथ की सबसे बड़ी विशेषता इस प्रसंग में यह है कि उन्होंने कवि और सहृदय के अतिरिक्त काव्य-समीक्षक अथवा आलंकारिक के लिए भी काव्य के प्रयोजन रूप 'चतुर्वर्ग की प्राप्ति' का उल्लेख किया है।

विश्वनाथ के काव्य-लक्षण की समीक्षा

प्रश्न ४—आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत 'काव्य-लक्षण' की समीक्षा कीजिए और उसके आधारभूत सिद्धान्त का औचित्य बताइये।

अथवा

"वाक्यं रसात्मक काव्यम् काव्य का लक्षण नहीं, अपितु काव्य की प्रशस्ति है।" विवेचना कीजिए।

अथवा

'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।' मम्मट के इस काव्य लक्षण का विश्वनाथ द्वारा किया हुआ समीक्षण किस सीमा तक युक्तियुक्त है समीक्षा कीजिए।

उत्तर—अलंकारशास्त्र के प्रारम्भिककाल से ही काव्य की आत्मा निरूपण में रस के प्रति समादर भाव प्रकट किया गया और आगे चलकर र के साथ अन्य काव्य तत्त्वों का स्वरूप सम्बद्ध किया गया, अन्ततः आचा विश्वनाथ ने 'रस' को काव्य की आत्मा के रूप में उद्घोषित करते हुए अप काव्यलक्षण भी इसी मान्यता के आधार पर प्रस्तुत किया—

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

किसी काव्य तत्त्व को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने के दो आधार प्रकार हैं—

(१) रस में ही काव्य के अन्य तत्त्वों का समावेश एवं अन्तर्भाव समझना

(२) अन्य काव्य तत्त्वों द्वारा रस की पुष्टि समझना।

दूसरा आधार अधिक मान्य है, क्योंकि यह अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट, स्व आग्रह रहित एवं तर्क पूर्ण है। रस को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने का कारण यह भी है कि आनन्दवर्द्धन एवं उनके अनुकर्ता (मम्मट और विश्वन अन्य काव्य तत्त्वों को रस के साथ सम्बद्ध करते हुए इन्हें उसके पोषक प्रस्तुत करते हैं। काव्य के रस के अतिरिक्त अन्य प्रमुख तीन तत्त्व ये

अलंकार, गुण और रीति । इन आचार्यों ने इन तीनों तत्त्वों का लक्षण रस के आधार पर स्थिर किया है और दोष का लक्षण 'रस' के अपकर्ष पर स्थिर किया है अर्थात् 'जहाँ दोष रस का अपकर्षक है वहीं वह दोष है अन्यथा नहीं है ।' मम्मट ने काव्यप्रकाश में लिखा है—

उपकुर्वन्तितं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।।

आचार्य विश्वनाथ ने काव्यप्रकाशकार के काव्य-लक्षण 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' की पदशः आलोचना अपने काव्यलक्षण की अक्षरसः मान्यता के लिए की है । वे अपना काव्य लक्षण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को अक्षरसः सर्वमान्य बनाना चाहते थे । सर्वप्रथम उन्होंने 'तददोषौ शब्दार्थौ' की आलोचना की है । 'अदोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' इस कथन में विश्वनाथ ने अदोषौ पर कटाक्ष किया है । मम्मट ने उत्तम ध्वनिकाव्य का जो उदाहरण न्यक्कारो ह्ययमेव' दिया है, उसमें विश्वनाथ ने 'विधेयाविमर्श' का दोष लक्षित किया है । दूसरे, दोष रहित ही शब्दार्थ-युगल को काव्य मानने से काव्य का क्षेत्र संकुचित या सर्वथा लुप्त हो जाने की सम्भावना है । इसीलिए विश्वनाथ ने काव्यप्रकाशकार की समीक्षा करते हुए लिखा है—

किं चैवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्,
सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात् ।

डा० सत्यव्रतसिंह ने विश्वनाथ की समीक्षा को उचित नहीं माना है । उनका मत है कि "मम्मट के काव्य-लक्षण में 'शब्दार्थयुगल की अदोषता' पर जो सर्वप्रथम ध्यान रखा गया है वह संस्कृत काव्यसाहित्य की ऐतिहासिक और वास्तविक दोनों दृष्टियों से युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है । मम्मट ने 'दोषरहित शब्दार्थयुगल' को जो काव्य माना है, उसके साथ यह सार्वभौम सिद्धान्त भी समञ्जस रखा है कि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सर्वथा निरवद्य-निर्दुष्ट हो—नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहरं यत् । मम्मट के काव्यलक्षण में अदोषौ के अर्थ के रूप में 'ईषत् दोषयुक्तौ' की कल्पना विश्वनाथ कविराज की दुराग्रहपूर्ण दृष्टि का ही परिणाम है । इस अभिप्राय में तो मम्मट ने शब्दार्थ युगल की अदोषता कभी भी न मानी थी । विश्वनाथ कविराज की यह आलोचना व्यक्ति विवेककार आचार्य महिमभट्ट की आलोचना से प्रभावित तो अवश्य प्रतीत हो

रही है, किन्तु जहाँ महिमभट्ट ने एक सिद्धान्त-विशेष के अनुसन्धान के लि ध्वनिकार की पद-योजनाओं पर आक्षेप किया है, वहाँ विश्वनाथ कविराज बिना किसी सिद्धान्त-विशेष के प्रतिपादन के ही काव्यप्रकाशकार की प योजना पर कटाक्ष किया है।"

महिमभट्ट से प्रभावित होकर ही विश्वनाथ ने यह लिखा है कि "का वह शब्दार्थयुगल है जिसमें कोई दोष न हो।" यह कथन काव्य लक्षणकारों लिए उचित नहीं है, उन्हें तो यही कहना उचित है कि 'काव्य वह शब्दा युगल है जो रसात्मक हो।' इसके बाद ही विश्वनाथ ने मम्मट के उत्तमका के उदाहरण में विधेयाविमर्श आदि दोष लक्षित किया है। डा० सत्यव्रतसिंह लिखा है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की परिभाषा एकाङ्गी है। आच मम्मट ने अलंकार शास्त्र के ऐतिहासिक और वास्तविक तत्वों की पूर्व समीक्षा में अपनी काव्य-परिभाषा प्रस्तुत की है। इस व्यापक दृष्टि से दे 'शब्दार्थयुगल की अदोषता पर कोई दोष नहीं पड़ता।'

आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के काव्यलक्षण की समीक्षा करते हुए 'स शब्दार्थ युगल को काव्य मानने में अनुपपत्ति का निरूपण इस प्रकार किय कि शब्दार्थ युगल की सगुणता में काव्य स्वरूप की मान्यता युक्तिसंगत नह क्योंकि शब्दार्थ युगल को सगुण तब कहा जाय जब कि 'गुण' शब्द और अ धर्म माने जा सकें। गुण तो एकमात्र रस के धर्म हैं और स्वयं मम्मट ने इन्हें रस-धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है—'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौय इवात्मनः' (काव्यप्रकाश ८)। आगे पुनः विश्वनाथ ने लिखा है कि ' शब्दार्थयुगल की सगुणता' का अभिप्राय 'शब्दार्थयुगल की रसाभिव्यञ्ज है क्योंकि रसाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ को उपचारतः सगुण शब्द और कहा ही जा सकता है।' किन्तु यह यहाँ उपयुक्त नहीं है। क्योंकि यदि श युगल में रस नहीं है तो उसमें गुणवत्ता भी नहीं है। जहाँ रस रहेगा वहीं रहेंगे और जहाँ रस न होगा वहाँ गुण भी न होंगे।

विश्वनाथ ने मम्मट के 'सगुण शब्दार्थयुगल' रूप काव्य लक्षण का ख करते हुए लिखा है कि मम्मट को 'शब्दार्थयुगल की रसवत्ता' को काव्यस का नियामक बताना चाहिए था। उनका स्पष्ट मत है कि गुणाभिव्यञ्जक और अर्थ काव्य के उत्कर्षवर्द्धक भले ही हों, स्वरूप-नियामक कदापि न सकते। इसीलिए कहा गया है कि 'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस-

आत्मतत्त्व हैं, माधुर्यादिगुण शौर्यादि की भाँति रसरूप आत्मतत्त्व के अपृथक् सिद्ध धर्म हैं, श्रुति दुष्टादि दोषकाणत्व (काना होने) आदि की भाँति रसरूप आत्मतत्व के सौन्दर्यापकर्षक हैं, वैदर्भी आदि रीतियाँ शरीर संस्थान (अङ्गरचना) के समान काव्य-संस्थान हैं और (अनुप्रास) उपमादि अलंकार कटक, कुण्डल आदि आभूषणों की भाँति शब्द और अर्थ के सौन्दर्यवर्धक हैं।

काव्यप्रकाशकार की काव्य-परिभाषा के बिन्दु ये हैं—

(१) अदोष शब्दार्थयुगल रूप काव्य। इसकी समीक्षा विश्वनाथ के शब्दों में हम पहले ही प्रस्तुत कर चुके हैं।

(२) गुणयुक्त शब्दार्थयुगल—विश्वनाथ ने इसे भी अनावश्यक सिद्ध करने का प्रयास किया है। यहाँ विश्वनाथ का मत उचित नहीं है। मम्मट ने जहाँ माधुर्यादि गुणत्रय को मुख्यतः 'रसधर्म' माना है, वहाँ यह भी स्वीकार किया है कि उपचारतः गुण शब्दार्थगत भी कहे जा सकते हैं—

गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता। काव्यप्रकाश ८।६

इसलिए विश्वनाथ की समीक्षा मान्य नहीं है। विश्वनाथ ने एक युक्ति और दी है, वह यह कि यदि उपचार का आश्रय लेकर 'रसाभिव्यञ्जक' शब्द और अर्थ को सगुण शब्द और अर्थ कहा जा सकता है, तो इसी दृष्टि से उन्हें (शब्द और अर्थ को) 'रसवत्' अथवा 'सरस' कहने में क्या आपत्ति है? वास्तव में विश्वनाथ ने मम्मट पर यह कटाक्ष केवल इसीलिए किया है, क्योंकि वे 'सगुण शब्दार्थयुगल' के स्थान पर 'रसात्मक वाक्य' को काव्य सिद्ध करना चाहते हैं।

डा० सत्यव्रतसिंह ने विश्वनाथ के मत की समीक्षा, करते हुए लिखा है, कि "माधुर्यादिगुणों को काव्य का 'उत्कर्षाधायक' मात्र मानकर विश्वनाथ कविराज ने मम्मट की काव्य परिभाषा में 'शब्दार्थ की सगुणता' पर जो आक्षेप किया है वह भी सर्वथा समीचीन नहीं प्रतीत होता। गुण काव्य के स्वरूपाधायक नहीं अपितु उत्कर्षाधायक मात्र हैं—

गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थवत्त्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वं न तु स्वरूपाधायकत्वम्।

"इस युक्ति पर यदि विचार करें तो ऐसा लगता है, जैसे रसात्मक वाक्य को काव्य सिद्ध करने वाले आचार्य ने काव्य प्रकाश के खण्डन के आवेश में पड़कर गुण और अलंकार का भेदभाव ही भुला दिया है। रसध्वनिवादी

आचार्य तो गुणाभिव्यंजक शब्दार्थ योजना को काव्य का स्वरूपाधायक औ उत्कर्षाधायक दोनों माना करते हैं। गुण यदि रस के धर्म हुए और साहित्य कार की भी यही मान्यता है—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्म शौर्यादियो यथा।
गुणा माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति तो त्रिधा ॥ सा० द० ८१

'तब गुणाभिव्यंजक शब्दार्थ रचना काव्यस्वरूप न हुई तो और क्या हुई गुण तो काव्य के स्वरूपाधायक होकर ही उसके उत्कर्ष धायक हुआ करते है यह तो अलंकारों की बात है कि वे काव्य के स्वरूपाधायक नहीं अपितु यथ स्थान एकमात्र उत्कर्षधायक हुआ करते हैं।"

(३) अनलंकृती पुनः क्वापि। विश्वनाथ ने मम्मट के काव्य-लक्षण इस तृतीय बिन्दु की भी समीक्षा की है। उन्होंने इस बिन्दु का अर्थ इस प्रक किया है 'कि सर्वत्र तो अलंकारसहित शब्दार्थयुगल काव्य है ही, किन्तु कह कहीं ऐसा भी शब्दार्थयुगल काव्य ही समझना चाहिये जहाँ कोई भी अलंक स्फुटतया दिखायी न दे।" विश्वनाथ ने मम्मट की उपर्युक्त उक्ति का मनमा अर्थ करके उसकी यह आलोचना की है, "जहाँ तक सर्वत्र अलंकृत शब्द अ अर्थ को काव्य मानने का आग्रह है, उसके सम्बन्ध में तो यही कहा जाय कि यह आग्रह ठीक नहीं क्योंकि अलंकृत शब्द और अर्थ काव्य के स्वरूपधा नहीं, काव्य रूप नहीं, अपितु एकमात्र काव्य के उत्कर्षाधायक हुआ करते काव्य की उत्कृष्टता के साधन हैं।

विश्वनाथ की यह आलोचना बाल की खाल निकालने के समान शब्दार्थयुगलरूप काव्य की सर्वत्र अलंकृतता का जो मम्मट का मत है, उ यह निःसन्दिग्ध है कि 'रसभाव विवक्षा' का रहस्य है और इसी प्र 'शब्दार्थयुगल की यत्र कुत्रचित अलंकारशून्यता' में भी 'रसभावविवक्षा र रही है। अतः मम्मट के इस गूढ़ाशय को भुलाकर 'सर्वत्र अलंकृतता' दोषोद्भावना किस उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है ?

इसी प्रकार विश्वनाथ ने कुन्तक के मत की भी निःसार समीक्षा कर है। उन्होंने लिखा है कि 'अलंकृत शब्द और अर्थ काव्य नहीं हैं, यह सि तब कुन्तक का यह कथन कि 'वक्रोक्ति अथवा भङ्गी भणिति विचित्र अभि और अभिधेय काव्य का जीवन है, स्वयं असिद्ध हो गया। क्योंकि वक्रोक्ति अलंकार है, वह काव्य का आत्मतत्व नहीं हो सकता।

विश्वनाथ ने यहाँ वक्रोक्ति को एक अलंकार कह दिया है जबकि वक्रोक्ति-जीवितकार ने उसे कहीं भी अलंकार नहीं कहा है। कुन्तक का कथन है कि 'काव्य तो कवि की उक्ति विचित्रता है, वह कला है जिसके द्वारा वह ध्वनि साम्राज्य का संचालन किया करता है। अनेक प्रकार की वक्रता वाली कवि कला ही काव्य का सर्वस्व है। कुन्तक का मत है कि 'वक्रोक्ति' और 'अलंकार एक नहीं अपितु 'अलंकार' ही वक्रोक्ति का एक प्रकार है।

मम्मट ने काव्यप्रकाश में जो 'अनलंकृती पुनः क्वापि शब्दार्थौ काव्यम्' के उदाहरण में 'यः कौमरहरः स एव' आदि श्लोक दिया था, विश्वनाथ ने उसमें विभावना-विशेषोक्तिमूलक संदेह संकर का चमत्कार लक्ष्य करके मम्मट की समस्त विचारधारा के खण्डन का अनुचित प्रयास किया है। प्रश्न यह है कि 'यः कौमरहरः' आदि वाक्य क्या रसात्मक नहीं हैं। विश्वनाथ ने वितण्डा के सहारे यहाँ सिद्धान्त का अपलाप किया है।

इसी प्रकार विश्वनाथ ने अपने उपर्युक्त विचार-विमर्श की दृष्टि से सरस्वती कण्ठाभरण' सम्मत निम्नांकित काव्यलक्षण का भी खण्डन कर दिया है—

अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलंकृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्ति प्रीतिं च विन्दति ॥

मम्मट और भोजराज को एक ही कोटि में रखना उचित नहीं। विश्वनाथ यह अनुचित समीक्षा की है क्योंकि मम्मट का काव्यलक्षण कवि एवं सहृदय की दृष्टि से काव्य के असाधारण धर्म का निरूपण करता है, सरस्वतीकण्ठाभरण के काव्यलक्षण में यह बात स्पष्ट नहीं है।

साहित्यदर्पणकार ने इसके अनन्तर ध्वनिकार कृत काव्यलक्षण का खण्डन किया है। ध्वनिकार का यह कथन कि 'ध्वनि काव्य का आत्मतत्त्व है' विश्वनाथ की दृष्टि में निर्दुष्ट नहीं है, क्योंकि ध्वनि त्रिविध रूप है वस्तु, अलंकार और रसरूप ध्वनि। यदि त्रिविधध्वनि को काव्य की आत्मा मान लिया जाय तो ऐसे भी शब्दार्थ सन्दर्भ जैसे प्रहेलिका आदि काव्य की कोटि में आजायेंगे जिन्हें ध्वनिवाद के अनुसार कदापि काव्य नहीं माना जा सकता है।

ध्वनिकार की इस मान्यता की आलोचना महिमभट्ट विश्वनाथ से पूर्व कर चुके थे। यदि ध्वनिकार त्रिविध-रूप ध्वनि को काव्य का आत्मतत्त्व

मानते तो 'रस' को क्योंकर काव्यसर्वस्व कह सकते हैं। 'काव्यस्यात्मा ध्वनि
और निम्नलिखित सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध हैं—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
कौञ्च द्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

—ध्वन्यालोक १

अभिनवगुप्त में लोचन में इसका साभधान कर दिया है।

इस प्रकार ध्वनिकार के सिद्धान्त की प्राचीन आलोचना-प्रत्यालोचना इतिहास की पुनरावृत्ति में कोई मौलिकता नहीं है।

इसी प्रकार विश्वनाथ ने वामनकृत काव्य-लक्षण का (रीति ही का का आत्मतत्त्व सारतम पदार्थ है) भी खण्डन कर दिया है। रीति को उन्हं शरीर संस्थान रूप पदरचना से सम्बद्ध सिद्ध किया है। क्योंकि 'विशि पदरचना रीतिः' 'रीतिरात्मा काव्यस्य'।

रीति का खण्डन तो आनन्दवर्धन पहले ही कर चुके थे। विश्वनाथ खंडन तो उनका समर्थन मात्र है।

विश्वनाथ ने ध्वनिकार-सम्मत काव्यात्मवाद-में दोष-दर्शन कि है, यथा—

अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥

अर्थात् ध्वनिकार का यह कथन है कि 'काव्य का वही अर्थ वस् काव्य का आत्मभूतसारतम अर्थ है जिसे सहृदय-हृदय सराहते नहीं थक उस अर्थ के दो भेद ये हैं—

१—वाच्य रूप अर्थ।

२—प्रतीयमान (व्यंग्य) रूप अर्थ।

यहाँ ध्वनिकार ने वाच्य रूप अर्थ को भी काव्यत्म तत्त्व माना है कि अन्य स्थान पर काव्य की आत्मा ध्वनि को माना है। विश्वनाथ का है कि ये दोनों कथन परस्पर विरुद्ध होने से काव्य-स्वरूप के निरूपण में प्र नहीं हो सकते।

विश्वनाथ का यह आक्षेप 'शंकित पक्षदूषणप्रपंच' होने के कारण ' त्थान' ही है जैसा कि व्यक्ति विवेक व्याख्याकार आचार्य रुय्यक ने किया है क्योंकि जो बात ध्वनिकार के मन में नहीं उसका खण्डन निष्प्र

नहीं तो और क्या है। ध्वनिकार तो वाच्यरूप अर्थ को शरीरवत मानते हैं जिसमें व्यंग्यार्थरूप आत्मतत्व अन्तर्व्याप्त रहा करता है। विश्वनाथ का इसमें दोषदर्शन एक दुराग्रह मात्र है। ध्वनिकार ने स्पष्ट लिखा है कि 'जिसे सहृदय-हृदय सराहते नहीं थकते,' तो सहृदय वाच्य और व्यंग्य की शरीर एवं आत्मभूत स्थिति भली-भाँति समझते ही हैं।

विश्वनाथ ने इस प्रकार अन्य समस्त मतों का खण्डन करने के उपरान्त स्वसम्मत काव्यस्वरूप को प्रस्तुत किया है—वाक्यं रसात्मकं काव्यं।

'काव्य वह वाक्य है जो रसात्मक हो।' रसात्मक वाक्य का आत्मतत्त्व रस हुआ करता है। रस की व्युत्पति यह है 'रस्यते इति रस:' रस आस्वाद-विषय होता है। इस 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर जो भी सहृदयों के आस्वाद के विषय हुआ करते हैं जैसे कि भाव, रसाभास और भावाभास आदि आदि 'वे सभी यहाँ' विवक्षित और समुच्चित हैं।

मम्मट का काव्य-लक्षण ध्वनिवाद की दृष्टि से काव्य-स्वरूप का ऐसा निर्वचन है जिसमें एक ओर तो अन्य आलंकारिकवादों की विचारधाराओं का सामंजस्य स्थापित हो गया है और दूसरी ओर संस्कृत के समस्त काव्य-साहित्य की विशेषताओं का समावेश भी स्वभावत: परिलक्षित हो रहा है। आचार्य विश्वनाथ का काव्यलक्षण एकमात्र रसध्वनि काव्य का ही चिन्तन मन्त्र है। पण्डितराज जगन्नाथ ने विश्वनाथ की आलोचना की है—'साहित्यदर्पण का यह निर्णय कि 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है,' सर्वथा युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता। बात यह है कि यदि रस-प्रधान रचना में ही काव्य हो तब वस्तु किंवा अलङ्कार-प्रधान रचनाओं की क्या गति होगी? भला यह कैसे कहा जाय कि वस्तु किंवा अलङ्कारप्रधान रचनायें काव्य ही नहीं हुआ करतीं। संस्कृत का काव्य-साहित्य वस्तु किंवा अलङ्कार प्रधान रचनाओं से भरा पड़ा है। संस्कृत के बड़े-बड़े कवियों ने परम्परा से ऐसी रचनाओं में सफलता पायी है और संस्कृत के काव्य-भण्डार को अक्षय बनाया है। प्रकृति के भीम और रम्य दृश्यों का वर्णन क्या काव्य नहीं? पशु-पक्षियों और बालक-बालिकाओं की लीलाओं का स्वभावरम्य चित्रण क्या काव्य नहीं? यदि इस आपत्ति से बचने के लिए साहित्यदर्पणकार ने यह कहा कि वस्तु अथवा अलङ्कारप्रधान रचनायें भी काव्य-कोटि में आ जावेंगी क्योंकि इनमें भी परम्परया रसात्मकता मान ली जायगी तब तो इससे यही अन्त में सिद्ध हुआ कि 'गोश्चलति' 'मृगो

धावति' आदि वाक्य भी काव्य बन गये, क्योंकि यहाँ भी किसी प्रकार रस की फुहार पड़ती देखली जायगी ? ऐसा भी क्या काव्य-लक्षण, जिसमें लक्ष्य का कोई स्वरूप ही न निर्धारित हो ?"

व्यक्ति विवेककार का मत है कि "जिसे भी काव्य कहते हैं, वह रसात्मक ही हुआ करता है। ऐसी कोई भी रचना जो रसात्मक न हो काव्य नहीं कही जा सकती।" विश्वनाथ ने 'विभावादि योजनात्मक वाक्य को ही काव्य माना है, किन्तु व्यक्तिविवेककार से भेद प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने इसे उन शब्दों में न कह कर अपने शब्दों में प्रकट किया है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस प्रकार मम्मट का ही काव्यमत नये परिधान में साहित्यदर्पणकार का काव्यमत बना दिखायी पड़ता है। विश्वनाथ ने व्यक्तिविवेककार का नामोल्लेख किये बिना ही उनकी विचारधारा का अनुसरण करके ध्वनिवादी आचार्यों की काव्य-परिभाषा का खण्डन किया।

डा० सत्यव्रतसिंह का निष्कर्ष है कि 'चाहे जो कुछ भी हो, विश्वनाथ कविराज की काव्य-परिभाषा अलङ्कारशास्त्र में अपना स्थान रखती है। विश्वनाथ कविराज की चिन्तनधारा ने पण्डितराज जगन्नाथ के विचार सागर को प्रभावित किया है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की मान्यताओं के अनुसन्धान में ही 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दं काव्यम्' का रसगंगाधर-सिद्धान्त निकला है। विश्वनाथ कविराज नवीनता के पुजारी हैं। कविता-सरस्वती को जैसे 'काव्यप्रकाश' की आवश्यकता है, वैसे ही 'साहित्यदर्पण' की भी। 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' में भले ही कुछ मनमुटाव हो किन्तु वाग्देवी के समक्ष तो दोनों का समान ही मान है और दोनों में समान ही भाव और स्फूर्ति है।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' इस काव्यलक्षण में विश्वनाथ कविराज ने 'रस' का व्यापक अभिप्राय स्वीकार किया है। रस और भाव, रसभाव और भावाभास, भावोदय और भावप्रशम, भावसन्धि और भावशबलता ये सभी सभी 'रस' ही हैं, क्योंकि इन सब में आस्वाद अथवा आनन्दानुभव सहृदय संवेद्य है।

विश्वनाथ ने अपने काव्यलक्षण में ही लिखा है कि 'जिस रसात्मक वाक्य को काव्य कहा गया है उसकी अपकृष्टता जिनके द्वारा हुआ करती है, वे काव्य के दोष कहे जाते हैं—दोषास्तस्यापकर्षका।

दोष वस्तुतः वे ही होते हैं जो रसात्मक वाक्य रूप काव्य की उत्कृष्टता अथवा सुन्दरता के विघातक हुआ करते हैं। रसात्मक वाक्य के अपकर्षकारक ये दोष साक्षात् अथवा परम्परया होते हैं।

डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' इस काव्य-लक्षण के साथ जब तक 'दोषास्तस्यापकर्षकाः' तथा 'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः' की कड़ी न जोड़ी जाय, तब तक 'साहित्यदर्पण' की विशद रचना का सूत्र नहीं मिल सकता। इसीलिए वस्तुतः विश्वनाथ कविराज ने काव्यलक्षण वाक्य में ही इन्हें भी जोड़ दिया है। किन्तु एक बात यहाँ खटकती है और वह यह है कि जब 'रसात्मक वाक्य' बन गया और वह 'काव्य' हो गया, तब गुण अलङ्कार और रीति के द्वारा उसका उत्कर्षवर्धन होने पर वह 'काव्यविशेष' क्यों न कहा गया? मम्मट का काव्यप्रकाश तो उनके काव्यलक्षण वाक्य की ही पूर्वापर-अनुस्यूत महाव्याख्या है—इस धारणा से ही विश्वनाथ कविराज ने अपना भी काव्यलक्षण वाक्य रचा था और इसी विश्वास से रचा था जिसमें साहित्यदर्पण की रूपरेखा उसी में (लक्षण वाक्य में) झलक जाय। किन्तु कुछ चूक अवश्य हो गयी है! 'रसात्मक वाक्य' के बन जाने पर और उसके काव्यरूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर 'दोष' उसका क्या करेंगे? 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहकर 'दोषास्तस्यापकर्षकाः' कहने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं प्रतीत होता।

विश्वनाथ ने गुण-अलङ्कार और रीति को रसात्मक वाक्य रूप काव्य की उत्कृष्टता का कारण बताया है—

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः। उनका यह कथन रसध्वनिवाद के विपरीत है। गुण और अलङ्कार के साम्यवाद का कथन रसध्वनिवादी आचार्य विश्वनाथ के लिए उचित नहीं है, यह तो ध्वनिवाद के पूर्ववर्ती आलंकारिकता का काव्यवाद रहा है। ध्वनिवाद में गुण और रीति का सामंजस्य माना जाता है, किन्तु विश्वनाथ ने यहाँ दोनों को पृथक्-पृथक् रूप में प्रस्तुत किया है।

वस्तुतः आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के काव्यलक्षण का खण्डन करते हुए गुण और अलङ्कार को एक ही कक्षा में रखकर भूल की है और गुण एवं रीति को दो पृथक् तत्त्वों के रूप में निरूपित करना भी उचित नहीं है।

इस प्रकार साहित्यदर्पणकार की काव्य-परिभाषा काव्य का लक्षण नहीं प्रतीत होती, अपितु काव्य की प्रशस्ति ही प्रतीत होती है।

वाक्य का स्वरूप

प्रश्न ५—विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में वाक्य के स्वरूप का जो विवेचन किया है, उसका स्पष्ट निरूपण कीजिए।

उत्तर—साहित्यदर्पण में वाक्य का स्वरूप निरूपण द्वितीय परिच्छेद में किया गया है। विश्वनाथ कविराज ने लिखा है—

वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।

अर्थात् 'वाक्य ऐसे पदों का समूह है जिसमें योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति का रहना अनिवार्य है।' इस प्रकार वाक्य पदों का समूह है और इस पदसमूह में योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति अनिवार्य रूप से रहती है।

(१) **योग्यता**—वह विशेषता है जिसे पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में किसी बाध अथवा विरोध का अभाव कहा जाता है। जैसे 'वह्निना सिञ्चति' पदसमूह में पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध की अनुपपत्ति होने से योग्यता का अभाव है, अतः यह वाक्य नहीं है। (आग और सींचना इन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में विरोध सर्वानुभवसिद्ध है)

(२) वाक्यरूप पदोच्चय की दूसरी विशेषता आकांक्षा है। आकांक्षा का तात्पर्य है एक-एक पदों के अर्थ की प्रतीति में अभिप्रेत-प्रतीति की समाप्ति का अभाव। एक पदार्थ की प्रतीति में अभिप्रेत-प्रतीति की समाप्ति का जो अभाव है, वह वस्तुतः श्रोता की एक जिज्ञासा है, जो कि एक पद से अन्वित दूसरे पद को ढूँढा करता है, क्योंकि यदि परस्पर निराकांक्ष अर्थ वाले भी पद समूह वाक्य माने जाने लगे, तब तो ऐसे भी पदसमूह वाक्य होने लगेंगे —

गौरश्वः पुरुषो हस्ती (गौ, अश्व, पुरुष, हाथी) इनमें किसी भी पद का अर्थ दूसरे पद की आकांक्षा नहीं रखता।

(३) वाक्यरूप पदोच्चय की तीसरी विशेषता आसत्ति है। आसत्ति का अभिप्राय यह है कि किसी अभिप्राय के उपस्थापक पदार्थों को अविच्छिन्न रूप में प्रस्तुत किया जावे। आसत्ति विरहित पदोच्चय वाक्य नहीं हो सकता, जैसे अभी बोले गए देवदत्तः पद और दूसरे दिन बोले गये गच्छति पद का मिलान वाक्य नहीं बन सकता। आकांक्षा और योग्यता वाक्यरूप पदोच्चय अथवा पद समूह के औपचारिक धर्म हैं, मुख्यरूप से नहीं। आकांक्षा रूप एक पद के

अन्वित होने वाले दूसरे पद के ज्ञान की स्वाभाविक इच्छा तो वस्तुतः श्रोता का धर्म है न कि पद का। इसी प्रकार 'योग्यता' भी पद-धर्म न होकर पदार्थ-धर्म ही है क्योंकि उपपत्ति का सद्‌भाव अथवा असद्‌भाव पदों से नहीं अपितु पदार्थों से सम्बद्ध रह सकता है। किन्तु जबकि उपचार का आश्रय लिया जाय तब तो यह कहा भी जा सकता है कि आकांक्षा और योग्यता वाक्यरूप पदोच्चय धर्म हैं। आकांक्षा और पदोच्चय में परम्परया जन्य-जनकभाव सम्बन्ध रहता है। योग्यता और पदोच्चय में परम्पर या आश्रयाश्रयि भाव सम्बन्ध है।

साहित्यदर्पणकार की काव्य परिभाषा इस प्रकार है—'रसात्मक वाक्य काव्य है।' उनका वाक्य का स्वरूप पदवाक्य प्रमाणवित् आचार्यों द्वारा प्रमाणित है। राजशेखर ने वाक्य के सम्बन्ध में लिखा है—

पदानामभिधित्सितार्थ ग्रन्थनाकरः संदर्भो वाक्यम्।

अर्थात् 'अभिधित्सित अर्थ के गुम्फन करने वाले पदों का सन्दर्भ वाक्य है।' यह वाक्य का एक सरल स्वरूप निरूपण है। पदों के द्वारा अभिधित्सित (जिसके प्रतिपादन की इच्छा हो) अर्थ का गुम्फन आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति पर निर्भर है। मनोविज्ञान की दृष्टि आकांक्षा तत्त्व का दर्शन करती है, तर्क के द्वारा 'योग्यता' का निर्धारण होता है और भाषा विज्ञान 'आसक्ति' की उपादेयता पर बल देता है। इस प्रकार इन तीनों की विशेषताएँ ही अभिधित्सित अर्थ के गुम्फन करने वाले पद-सन्दर्भ की विशेषताओं के रूप में स्वीकार की गयी हैं।

आकांक्षा को मीमांसकों ने महत्त्व दिया है, योग्यता को नैयायिकों ने और आसक्ति को वैयाकरणों ने। आचार्य विश्वनाथ ने नैयायिक मान्यता का अनुसरण करते हुए 'योग्यता' का प्राधान्य माना है। सिद्धान्त मुक्तावली में योग्यता की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

एकपदार्थेऽपर पदार्थ सम्बन्धो योग्यता।

अर्थात् एक पद के अर्थ के साथ दूसरे पद के अर्थ का वह सम्बन्ध जिसके द्वारा एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ अन्वय या सम्बन्ध सम्भव हो।

परमलघुमंजूषाकार ने लिखा है कि 'योग्यता पदों के द्वारा उपस्थित अर्थों का वह धर्म है जो उनके परस्पर अन्वय अथवा सम्बन्ध का प्रयोजक हुआ करता है। वस्तुतः इसी धर्म के कारण यह सम्भव है कि 'पयसासिञ्चति' यह पदसमूह तो 'वाक्य' हो सकता है किन्तु 'वह्निना सिञ्चति' जैसे पदोच्चय वाक्य नहीं

हो सकते । 'पयस्' इस पद के अर्थ जलरूप द्रव्य में एक योग्यता है, 'द्रवत्व' जे सींचने की क्रिया के साथ अन्वय का स्वभावतः प्रयोजक है। इसी प्रका 'सिञ्चति' पद के अर्थ अर्थात् सिञ्चन की क्रिया में भी एक योग्यता है f वह किसी वस्तु को आर्द्र या भिगो सकती है। इस प्रकार सिञ्चन की क्रि अपने साथ जलरूप द्रव द्रव्य को करण (साधकतम) रूप से अन्वित करने अनायास समर्थ है । इस प्रकार 'पयसा सिञ्चति' जैसे पद योग्य हैं, ऐसे पदा के उपस्थापक हैं जिनमें परस्पर अन्वित अथवा सम्बद्ध होने की सामर्थ्य है औ ये पद वाक्य कहलाने योग्य हैं । 'वह्निना सिञ्चति' में पदार्थों में परस्परान्व का प्रयोजक कोई धर्म न होने से ये पदोच्चय वाक्य नहीं कहे जा सकते 'योग्यता' यद्यपि अर्थ धर्म है, किन्तु इसे उपचार से ही पदोच्चय धर्म मान जाता है। अर्थ और योग्यता का साक्षात् सम्बन्ध है, जिससे यह सिद्ध है f पद और योग्यता परम्परया सम्बद्ध हैं ।

आकांक्षा का अभिप्राय है श्रोता की यह जिज्ञासा कि किस पद का अ किस पद के अर्थ का स्मारक है। वाक्यरूप पदोच्चय में आकांक्षा स्वाभावि एवं आवश्यक है, क्योंकि एक पद दूसरे पद की आकांक्षा किया करता है । जै घटमानय में घटम् कर्मकारक पद और आनय क्रियापद है। 'घटम्' पद क आनय पद की आकांक्षा है और 'आनय' पद को घटम् पद की। यह आकांक्ष श्रोता की जिज्ञासा है जिसका विषय पदों की परस्पर अर्थस्मारकता है । कि वाक्य में एक पद दूसरे पद की आकांक्षा रखा करता है—इसका वस्तु तात्पर्य यही है कि वाक्यवर्ती पद परस्पर साकांक्ष अर्थ के बोधक हैं । महाभाष्य कार पतञ्जलि ने इस बात को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

> परस्परव्यपेक्षां सामर्थ्यमेके । का पुनः शब्दयोर्व्यपेक्षा ? न ब्रूमश्शब्दयोरिति किं तर्हि अर्थयोरिति ।'

आकांक्षा श्रोता की वह इच्छा है जिसका विषय किसी एक पद के अ ज्ञान में उससे सम्बद्ध किसी दूसरे पद का अर्थज्ञान है, यही वह सर्वप्रथम त है जिससे कोई पदसमूह वाक्यरूप में पहचाना जाया करता है । पयसा सिञ्चि इन दोनों पदों में साध्य-साधन भावरूप सम्बन्ध है और इसीलिए ये पद परस्प साकांक्ष हैं और वाक्यरूप हैं । आकांक्षा श्रोतृधर्म होने पर भी पद धर्म है पद साकांक्ष न होकर पदोपस्थापित अर्थ साकांक्ष हो सकते हैं ? किन्तु आकांक्ष चैतन्य का धर्म है, अतः अर्थ भी साकांक्ष नहीं हो सकता । तब भी उपचा

रूप से अर्थों को परस्पर साकांक्ष कहा जा सकता है, क्योंकि ये तो अर्थ ही हैं जो कि अपने-अपने उपस्थापक पदों के श्रोता के मन में अपने परस्परान्वय की आकांक्षा उत्पन्न किया करते हैं। इसी प्रकार उपचार से पदों को भी साकांक्ष कहा जाता है। इसी प्रकार परस्पर साकांक्ष अर्थ ही परस्पर सम्बन्ध-योग्य हो सकते हैं और इसीलिये योग्यता भी अर्थगत ही हुआ करती है किन्तु परस्पर योग्य-अर्थों के प्रतिपादक पदों को भी उपचारतः 'योग्य' कहना ठीक ही है।

आसत्ति भी वाक्यार्थ बोध का एक आवश्यक उपाय माना गया है, इसीलिए इसे वाक्यरूप पदोच्चय में समन्वित धर्म कहा गया है। इसका अभिप्राय है श्रोता में पद प्रतीति का अविच्छिन्न प्रवाह। पद प्रतीति की विच्छिन्नता (१) काल व्यवधान तथा (२) अन्वयानुपयुक्त पदान्तर व्यवधान से होती है। पहले व्यवधान का उदाहरण 'देवदत्तः' पद का कल उच्चरित 'गच्छति' पद से संगति का अभाव है। साहित्यदर्पणकार ने यह उदाहरण दिया है। दूसरा व्यवधान है—अन्वयानुपयुक्तपदान्तर व्यवधान। इसका उदाहरण वैयाकरणों अथवा नैयायिकों ने इस प्रकार दिया है—

गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन।

इस पदोच्चय में 'गिरिः' और 'अग्निमान' के बीच 'भुक्तम' इस अन्वय अयोग्य पद के व्यवधान तथा भुक्तम् और देवदत्तेन के बीच 'अग्निमान् 'इस सम्बन्ध के अयोग्य पद के व्यवधान में शाब्दबोध का होना असम्भव माना गया है।

नागेशभट्ट ने लिखा है कि प्रकृत अन्वयबोध के प्रतिकूल पद का अव्यवधान ही आसत्ति है। जैसे 'गिरिरग्निमान्' अथवा 'भुक्त देवदत्तेन' आदि पदोच्चय में 'आसत्ति' स्पष्ट दिखायी देती है। इस 'आसत्ति' के ही कारण ही ये पदोच्चय वाक्य हैं और इसी से इनका शाब्दबोध अनायास हुआ करता है। जहाँ आसत्ति नहीं होती वहाँ शाब्दबोध भी नहीं होता और वाक्य की रूपरेखा भी नहीं रहती, जैसे 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' में।

इस प्रकार आसत्ति परस्पर अन्वययोग्य पदार्थों (और इसीलिए पदों की) अव्यवहित उपस्थिति है। यदि कहीं परस्पर सम्बन्धशील पदार्थों की उपस्थिति में किसी प्रकार की विघ्नबाधा पड़ जाय, तब न तो वहाँ वाक्यार्थ बोध हो सके और न वाक्य ही बन पाये। निष्कर्ष यह कि आसत्ति शाब्दबोध का एक आवश्यक कारण है।

साहित्यदर्पणकार ने वाक्य की उपर्युक्त मीमांसा के द्वारा मम्मट 'शब्दार्थों' की आलोचना की है। मम्मट ने 'दोषरहित, गुणसहित, अलंकृ किंवा यथास्थान अनलंकृत शब्दार्थयुगल' को काव्य माना था। मम्मट 'शब्दार्थयुगल' को काव्य माना वाक्य को नहीं। भामह ने भी 'शब्दार्थों सहि काव्यम्' माना था। इस प्रकार मम्मट की यह परिभाषा 'अव्याप्ति' दोष दूषित मानकर 'विशिष्ट शब्दार्थ साहित्य काव्य है' मान्यता स्थापित की विश्वनाथ भी वाक्य को काव्य न मानकर रसात्मकवाक्य को, विशिष्टवा को ही काव्य मानते हैं। विश्वनाथ ने रस को शरीर मानकर उसके शरीर रूप में वाक्य की स्थापना की है। उन्होंने रस और वाक्य में ही शरीरा भाव की सिद्धि और साधना के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। य वाक्यशरीर और रसरूप आत्मतत्त्व का सम्बन्ध एक अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध तब तो योग्यता, आकांक्षता एवं आसत्ति युक्त पदोच्चय ही होगा, क्यों इनसे विशिष्ट पदोच्चय को ही 'वाक्य' कहा गया है। वाक्य ही रसरूप आत तत्व का अधिष्ठान है।

विद्वत्वर डा० सत्यव्रतसिंह ने साहित्यदर्पणकार की मान्यता का खण्ड किया है। उनका मत है कि आत्मस्थानीय रस को वाक्य की विशेषता कह उचित नहीं है। वाक्य के सम्बन्ध में भारतीय अथवा विदेशी विचारक अ तक एकमत नहीं हैं, शब्दार्थयुगल के सम्बन्ध में वे एकमत हैं। अतः वा रसात्मकं काव्यम् की अपेक्षा 'रसात्मक शब्दार्थनिकुरम्बं काव्यम्' कहना अ उचित है, क्योंकि 'वाक्य' का विश्लेषण भले ही अभी तक अपूर्ण हो सम्भवतः ऐसा ही रह भी जाय, 'शब्दार्थ निरकुम्ब (शब्दार्थों) के सम्बन्ध तो कोई सन्दिग्धता नहीं दिखायी देती।'

शब्दशक्तियों के स्वरूप का निरूपण

प्रश्न ६— साहित्यदर्पण में शब्द-शक्तियों के विवेचन में क्या नवीनता है स्पष्ट विवेचन कीजिए।

अथवा

विश्वनाथ ने शब्द-शक्तियों के निरूपण में ध्वनिमत का अनुसरण कि है। उन्होंने 'त्रिस्त्र:शब्दस्य शक्तय:' के द्वारा मम्मट अभिप्रेत अभिधादि निरूपण किया है।' इस कथन की विवेचना कीजिए।

उत्तर—शब्दों के अर्थों का बोध कराने वाले अर्थ-व्यापारों को शब्द-श

कहते हैं। ध्वनिवादी काव्याचार्यों की भाँति विश्वनाथ कविराज ने भी शब्द की तीन शक्तियों का स्वरूप निर्धारण किया है। शब्द की ये तीन शक्तियाँ उसकी तीन उपाधियाँ हैं, जिन्हें अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के रूप में पहचाना जा सकता है और जिनके कारण शब्द 'वाचक', 'लाक्षणिक' और 'व्यञ्जक' रूप से प्रतीत हुआ करता है—

अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्टयात् त्रिविधोमतः।
शब्दोऽपि वाचकस्तद्वल्लक्षको व्यञ्जकस्तथा ॥ सा० द० २।१६

अर्थात् 'अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—इन तीन उपाधियों अथवा धर्मों की विशेषता के कारण शब्द भी तीन प्रकार के हुआ करते हैं, जैसे कि (१) वाचक, (२) लक्षक और (३) व्यंजक।

अर्थ प्रकार का निरूपण करते हुए विश्वनाथ कविराज ने लिखा है—

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधामतः ॥

'अर्थ तीन प्रकार का होता है—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ।'

इन त्रिविध अर्थों के स्वरूप का निरूपण करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है—

वाच्योऽर्थोऽभिधेय बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥

अर्थात् 'इनमें' 'वाच्य' अर्थ वह है जो अभिधा शक्ति द्वारा प्रतिपादित किया जाया करता है, 'लक्ष्य' अर्थ वह है जो लक्षणाशक्ति द्वारा बोधित हुआ करता है और 'व्यङ्ग्य' अर्थ उसे कहते हैं जो व्यंजना शक्ति द्वारा अवगत किया जाया करता है। इस प्रकार शब्द की शक्तियाँ भी तीन होती हैं।

अभिधा, लक्षणा और व्यंञ्जना को आचार्य विश्वनाथ ने शब्द की त्रिविध शक्तियाँ माना है, जबकि अन्य आचार्य इन्हें 'वृत्तियाँ' अथवा 'व्यापार' कहा करते हैं।

महावैय्याकरण ने इन्हें शब्द की वृत्तियाँ कहा है और शब्ददर्शन के आचार्य वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषाकार ने 'शक्ति' को 'अभिधावृत्ति का पर्याय माना है—

शक्तिस्त्रिधा रूढ़िर्योगो योगरूढ़िश्च।

अर्थात् 'शक्ति' अथवा अभिधा तीन प्रकार की होती है—रूढ़ि, योग और योगरूढ़ि।

'वृत्ति' के लिए 'व्यापार' शब्द का प्रयोग मम्मट ने काव्यप्रका किया है—

स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ।

आचार्य विश्वनाथ ने अभिधाथि को 'वृत्ति' अथवा 'व्यापार' के स्थान 'शक्ति' शब्द से संबोधित किया है, उसमें उनका विशेष उद्देश्य है । आलंका ने व्यापार, वृत्ति शक्ति तीनों को समानार्थक माना है । आचार्य आनन्दव ने 'अभिधा' को 'अभिधानशक्ति' और 'व्यञ्जना' को 'अवगमनशक्ति' कहा आचार्य अभिनवगुप्त भी अभिधा को 'व्यापार' अथवा 'शक्ति' दोनों नाम संबोधित करते हैं ।

आचार्य विश्वनाथ ने भी ध्वनिवादी आचार्यों की परम्परा में अभि को शक्ति कहना उचित समझा है । 'अभिधा' शक्ति है जिसका स्फुरण अभि है, इत्यादि विचारधारा इसी बात को प्रमावित करती है कि शब्द अभिधादि शक्ति में शक्ति मान और शक्ति का सम्बन्ध है । भर्तृहरि ने वा पदीय में लिखा है कि 'शक्ति-शक्ति मद्‌भाव' के ही कारण शब्द और अर्थ आत्मतत्त्व के अपृथक् सिद्ध भाग हैं—

यदन्तः शब्दतत्त्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम् ।
तदाहुरपरे शब्द तस्य वाक्ये तथैकता ।
अर्थ भागैस्तथा तेषाभात्तरोऽर्थः प्रकाशते ।
एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ ॥

विश्वनाथ ने अभिधा शक्ति का निरूपण इस प्रकार किया है—

तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा ।

अर्थात् त्रिविध शब्दशक्तियों में अभिधा शक्ति वह है, जिससे संके (प्रसिद्ध) अर्थ का अवबोध हुआ करता है और इसीलिए जिसे शब्द की प्र (मुख्य) शक्ति कहा करते हैं । पद के संकेत का ग्रहण इन उपायो होता है—

(१) वृद्धव्यवहार—गामानय 'गौ लाओ ।'

(२) प्रसिद्धार्थक पद के समभिव्याहार अथवा सान्निध्य से भी संकेत ग्रहण होता है ।

(३) आप्तोपदेश—प्रामाणिक व्यक्ति के उपदेश से भी संकेत का धारण किया जाया करता है ।

अभिधा शक्ति से उपर्युक्त उपायों से संकेतित अर्थ ग्रहण करते हैं। यह मुख्यशक्ति है, क्योंकि किसी शब्द और उसके अभिधान के बीच अन्य कोई भी शब्दशक्ति नहीं आया करती। शक्ति संकेत नहीं वरन् संकेत ग्राह्य है। शब्द में अभिधा शक्ति है, यह बात संकेत के जानने से पता चलती है। साहित्यदर्पणकार ने मीमांसक-वैयाकरण सम्मत शक्ति सिद्धान्त का अनुसरण किया है। उनकी परिभाषा इस प्रकार है, "अभिधा संकेतित अर्थ का बोधन कराने वाली शक्ति है।" वे संकेत और अभिधा को भिन्न-भिन्न वस्तु मानते हैं। उन-उन संकेतित अर्थों का बोधन कराने वाली जो शक्ति है, वह अभिधा नाम की शक्ति है। विश्वनाथ का अभिधा और संकेत का पृथक् निरूपण करने का प्रयास युक्त-युक्त है।

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में संकेतग्रह के तीन ही उपाय बताए हैं, किन्तु टीकाकारों ने संकेतग्रह के परम्परा से मान्य आठों उपायों का समावेश कर दिया है। अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवचन, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृत्ति और प्रसिद्ध पदसान्निध्य। विश्वनाथ ने तीन को ही इसलिए माना, क्योंकि वाक्य में ही पद का संकेतग्रह युक्तियुक्त हुआ करता है और अलंकार-शास्त्र में 'शक्तिग्रह' के विवेचन में इन तीन उपायों का ही विवेचन समीचीन है।

संकेत का ग्रहण चतुर्विध क्षेत्र में होता है—जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया। वैयाकरणों ने शब्दराशि का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—जातिशब्द, गुण-शब्द, क्रियाशब्द और द्रव्यशब्द अथवा यदृच्छाशब्द।

जाति को पदार्थ का प्राणप्रद कहा जाता है, क्योंकि इसीके द्वारा शब्द व्यवहारयोग्य हुआ करते हैं। 'व्यक्ति' को शब्द का संकेतित अर्थ नहीं मान सकते। वैसे तो जाति और शब्द दोनों की ही प्रतीति शब्द से ही हुआ करती है, किन्तु शब्द की अभिधा शक्ति पहले जाति रूप अर्थ को उपस्थापित किया करती है, तत्पश्चात् व्यक्ति रूप अर्थ को। अभिधा तो एक ही जातिरूप अर्थ को प्रस्तुत करती है, व्यक्ति रूप अर्थ को विशेषण रूप अर्थ अपने विशेष्यरूप व्यक्ति रूप अर्थ का आक्षेप कर लेता है।

गुण वह धर्म है जो वस्तु-द्रव्य पर आश्रित रहा करता है। क्रिया वस्तुधर्म जो सिद्ध न होकर साध्य है। इसीलिए क्रिया को 'भावना' भी कहा जाता है।

लक्षणाशक्ति का निरूपण करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है—

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो यमान्योर्थः प्रतीयते ।
रूढेः प्रयोजनद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ।।२।५

"वह शक्ति जो कहीं मुख्यार्थ के अन्वयबोध के बाधित अथवा अनुपपन्न हो जाने पर वहाँ एक ऐसे अर्थ का अवबोधन करवाया करती है जो मुख्यार्थ से सर्वथा असम्बन्ध नहीं अपितु किसी न किसी रूप से सम्बद्ध तो अवश्य करता है किन्तु मुख्यार्थ के स्वभाव से भिन्न स्वभाव का ही हुआ करता है। ऐसा होने का कारण या तो 'रूढ़ि' (प्रयोग-प्रवाह) है जो वक्ता के वश में या 'प्रयोजन विवक्षा' जो वक्ता के अधिकार की बात है।"

लक्षणा के विश्वनाथ ने ८० भेद-प्रभेद प्रस्तुत किये हैं। डा० सत्यव्रत ने लिखा है कि "विश्वनाथ कविराज ने लक्षणा के सम्बन्ध में कतिपय बातों का भी निर्देश किया है, जिन्हें काव्यप्रकाशकार ने सोच-समझ कर दिया है। जैसे कि काव्यप्रकाशकार ने व्यङ्ग्यार्थ गर्भता के आधार पर के दो ही भेद गिनाये हैं—(१) गूढ़ व्यङ्ग्या और (२) अगूढ़ व्यङ्ग्या विश्वनाथ कविराज ने इनमें भी प्रयोजन के 'धर्मिगत' और 'धर्मगत' निर्दिष्ट कर दिये हैं जिससे प्रयोजनवती लक्षणा की भेद संख्या बढ़ गयी इससे व्यंजना का क्षेत्र संकुचित हो जाता है।

अभिधा तो शब्द की स्वाभाविक शक्ति है और लक्षणा आरोपित काल्पनिक शक्ति, क्योंकि शब्द और उसके लक्ष्यार्थ के बीच अनुप-पत्र मु का व्यवधान अनिवार्य है।

व्यञ्जना शक्ति का लक्षण विश्वनाथ ने इस प्रकार दिया है—

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः ।।२।१२
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।

अर्थात् व्यञ्जनाशक्ति शब्द और अर्थ आदि की वह शक्ति है जो अ आदि शक्तियों के शान्त हो जाने पर अर्थात अपने-अपने कार्य कर चु बाद क्षीण सामर्थ्य हो जाने पर, एक ऐसे अर्थ का अवबोधन कराया क जो बाच्य लक्ष्यादि रूप अर्थों से सर्वथा एक विलक्षण प्रकार का अ करता है। अभिधा और लक्षणा तथा तात्पर्यशक्ति एक बार जब अपना कर चुकती हैं तो उनमें फिर कोई व्यापार नहीं हो सकता। इस श

व्यञ्जन या ध्वनन या गमन या प्रत्यायन कह सकते हैं। यह शक्ति अभिधा या व्यञ्जना से भिन्न है।

विश्वनाथ कविराज की यह व्यञ्जना परिभाषा आचार्य अभिनवगुप्त की मान्यता का सारांश है। व्यङ्गयार्थ प्रतिपत्ति में अभिधा तो इसलिए असमर्थ है क्योंकि व्यङ्गयार्थ सांकेतिक अर्थ नहीं हुआ करता। तात्पर्यावृत्ति के द्वारा व्यङ्गयार्थ प्रत्यायन इसलिए असम्भव है क्योंकि जिसे व्यङ्गयार्थ कहते हैं वह पदार्थों का परस्पर संसृष्ट अथवा अन्वित अर्थ नहीं अपितु एक लोकोत्तर कमनीय अर्थ हुआ करता है। लक्षणा का भी व्यङ्गयार्थ में प्रवेश नहीं क्योंकि वहाँ उसके लिए कोई स्थान नहीं, न कोई हेतु अथवा प्रयोजन है। इन तीनों व्यापारों के अतिरिक्त किंवा इनसे सर्वथा उत्तीर्ण व्यञ्जना अथवा ध्वनन का व्यापार ही वह व्यापार है जिसे व्यङ्गयावबोध के लिए अनिवार्य रूप से मानना पड़ता है। विश्वनाथ की यह मान्यता ध्वन्यालोक लोचनकार की उक्ति पर आधारित है।

व्यंजना के प्रकार : शाब्दी व्यंजना तथा आर्थी व्यंजना

अभिधालक्षणा मूला शब्दस्य व्यंजना द्विधा। शाब्दी व्यंजना दो प्रकार की होती है—

(१) अभिधामूलक व्यंजना—जो संयोगादिरूप अभिधानियामकों में से किसी के द्वारा कहीं किसी अनेकार्थक शब्द के किसी एक प्राकरणिक अर्थ में नियन्त्रित कर दिये जाने पर एक ऐसे अर्थ को उपस्थित किया करती है जो कि वाच्यार्थ से सर्वथा विलक्षण अर्थ हुआ करता है—

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते।
एकत्रार्थेऽन्यधी हेतुर्व्यंजना साऽभिधाश्रया ॥२।१४

ऐसे प्रसंगों में, जहाँ किसी अनेकार्थक शब्द के अर्थ का परिच्छेद अथवा निर्णयन हो रहा हो, जिन कारणों से किसी अर्थ-विशेष का ज्ञान सम्भव है, वे हैं—संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, शब्दान्तर-सान्निध्य, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि।

(२) लक्षणामूला व्यंजना—जिसके द्वारा उस प्रयोजन का प्रत्यायन करवाया जाया करता है, जिसकी दृष्टि से लाक्षणिक पद का प्रयोग हुआ करता है—

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।
यया प्रत्याय्यते सा स्याद्व्यंजना लक्षणाश्रया ।।२।१५

लक्षणामूलक व्यंजना के द्वारा प्रयोजन के प्रत्यायन का रहस्य या 'गङ्गायां घोषः' 'गंगा पर कुटी' जैसे प्रसंग में, जहाँ 'गंगा' शब्द ऐसा है जिसकी अभिधाशक्ति तो प्रवाहरूप अर्थ के अवबोध में ही क्षीण हो है और लक्षणा का व्यापार सामीप्य-सम्बन्ध की प्रयोजकता से अधिक से तट रूप अर्थ का ही उपस्थापन कर पाता है। यह तो एकमात्र यह लक्षणाश्रित व्यंजना का ही सामर्थ्य है जिसके द्वारा यहाँ शीतलता और प के सुन्दर वातावरण की उत्कट प्रतीति करवाया जाया करती है।

काव्यप्रकाशकार को व्यंजना की सिद्धि करनी थी, अतः उन्होंने ल मूलक व्यंजना को पहले प्रस्तुत किया है, तदुपरान्त अभिधामूलक व्यंज निरूपण किया है। साहित्यदर्पणकार को व्यंजना की सिद्धि नहीं कर क्योंकि वह तो प्राचीन आचार्यों द्वारा की जा चुकी थी, अतः उन्हों ने अभिधामूलक और फिर लक्षणामूलक व्यंजना का निरूपण किया है।

आर्थीव्यंजना

अर्थसंभवा अथवा आर्थी व्यंजना वह है जो इन निम्नांकित का किसी अन्य ही अर्थ का प्रत्यायन कराया करती है—

(१) कारण वक्तृवैशिष्ट्य
(२) कारण बोद्धव्यवैशिष्ट्य
(३) कारण वाक्यवैशिष्ट्य
(४) कारण अन्यसंनिधिवैशिष्ट्य
(५) कारण वाच्यवैशिष्ट्य
(६) कारण प्रस्ताववैशिष्ट्य
(७) कारण देशवैशिष्ट्य
(८) कारण कालवैशिष्ट्य
(९) कारण काकुवैशिष्ट्य
(१०) कारण चेष्टा वैशिष्ट्य
(११) कारण अन्यान्यवैशिष्ट्य

साहित्यदर्पणकार ने पंचम परिच्छेद में व्यंजनाशक्ति निरूपण

और सारगर्भित बनाकर प्रस्तुत किया है। वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों का परस्पर विवेक उन्होंने बहुत ही स्पष्ट एवं सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है—

बोद्ध-स्वरूप-संख्या निमित्त कार्य-प्रतीति कालानाम्।
आश्रय-विषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्य ।।५।२

अर्थात् वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों में आकाश-पाताल का अन्तर है—ाच्यार्थ के बोद्धा पद-पदार्थवित् हो सकते हैं किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के बोद्धा सहृदय आ करते हैं। वाच्यार्थ यदि कहीं विधिरूप होता है तो वहीं व्यङ्ग्यार्थ नषेधरूप हो जाया करता है। वाच्यार्थ यदि एक है तो व्यङ्ग्यार्थ अनेक—नन्त रूपों का हुआ करता है। वाच्यार्थ का बोध शब्दोच्चारणमात्र से संभव किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के बोध के लिए भावयित्री प्रतिभा की अपेक्षा हुआ करती । वाच्यार्थ से प्रतीति उत्पन्न होती है और व्यङ्ग्यार्थ से चमत्कार। वाच्यार्थ ापात में प्रतीत होता है और व्यङ्ग्यार्थ अन्त में वाच्यार्थ रस का आश्रय ब्द हुआ करता है और व्यङ्ग्यार्थ का शब्द के अतिरिक्त वर्ण, अर्थ, रचना ादि-आदि। इतना ही नहीं वाच्यार्थ का विषय कुछ हुआ करता है और ङ्ग्यार्थ का कुछ।

काव्य के परम रमणीय अर्थ—रस, भाव आदि 'तट' आदि रूप अर्थों की ाँति पूर्वसिद्ध नहीं, जिससे व्यंजना के माने बिना भी, लक्षणा से काम ल जाय।

रस भावादि रूप व्यङ्ग्य अर्थ न तो अनुमेय रूप अर्थ है और न स्मृति प अर्थ, जिससे अनुमान अथवा स्मृति में ही व्यंजना अन्तर्भूतकर दी जाय। ंजना को तो अनिवार्य रूप से मानना ही होगा।

विश्वनाथ ने व्यंजना के शाब्दी और आर्थी भेद काव्यप्रकाशकार के अनुरूप किये हैं। आर्थीव्यंजना के तीन प्रकार व्यंजक अर्थ के तीन प्रकारों पर र्भर हैं—

(१) वाच्यार्थ की व्यंजना
(२) लक्ष्यार्थ की व्यंजना
(३) व्यङ्ग्यार्थ की व्यंजना

काव्यप्रकाशकार ने वाच्य-लक्ष्य तथा व्यङ्ग्यरूप त्रिविध अर्थों की जनामानी है, किन्तु इसके आधार पर आर्थी व्यंजना के तीन भेदों का लेषण नहीं किया है। विश्वनाथ ने ये तीन भेद माने हैं।

शाब्दी व्यंजना के क्षेत्र में शब्द की व्यंजना अर्थ की अपेक्षा किया कर
और आर्थी व्यंज्ना के क्षेत्र में अर्थ की व्यंजकता शब्द की अपेक्षा किया
है। इससे यही मानना पड़ता है कि एक की व्यंजकता में दूसरे की व्यंज
का हाथ अवश्य रहा करता है। शब्द की व्यंजकता में अर्थ-साहाय्य और
की व्यंजकता में शब्द साहाय्य का सिद्धान्त व्यंजनावाद का एक मौलिक सि
है। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यङ्गः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।

—ध्वन्यालोक १।

चाहे ध्वनि शब्दमूलक हो या अर्थमूलक—इतना निर्विवाद है कि
दोनों अर्थात् शब्द और अर्थ के अनुसन्धान के ध्वनि का स्वरूप नहीं प
जा सकता। शब्द और अर्थ की परस्पर सहकारिता ही शब्द व्यंजकता औ
व्यंजकता का मूलभूत सिद्धान्त है। यह तो शब्द व्यंजना के उन्मेष मे
व्यंजना का निमेष है और इसी प्रकार अर्थव्यंजना के उन्मेष में शब्द
का निमेष जिसके कारण शाब्दी और आर्थी व्यंजनाओं का स्वरूप भेद
जाया करता है।

अभिधादि तीन उपाधियों अथवा धर्मों की विशेषता के कारण श
तीन प्रकार के हुआ करते हैं—

(१) वाचक शब्द—जिसमें अभिधाधर्म सम्बद्ध रहा करता है।

(२) लक्षक शब्द—जिसमें लक्षणाधर्म का सम्बन्ध है।

(३) व्यंजक शब्द—जिसमें व्यंजना धर्म सम्बद्ध रहा करता है।

डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि 'अभिधा, लक्षणा और व्यंज
आलङ्कारिकों ने उपाधि अथवा धर्म माना है जिसके कारण किसी
वाचक अथवा किसी को व्यंजक कहना अनुचित है, क्योंकि कोई भी शब
अभिधादि व्यापारों के कारण वाचक अथवा लाक्षणिक अथवा व्य
सकता है।

आनन्दवर्धन ने शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध को
स्वाभाविक धर्म और व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव सम्बन्ध को शब्द का नैमि
माना है। काव्यप्रकाशकार का कथन है कि अभिधा, लक्षणा और व्यञ्
त्रिविध उपाधियों के कारण शब्द भी वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्ज

करते हैं। यहाँ अभिधादि उपाधियों का त्रित्व मानना युक्तियुक्त है जिसके कारण उपाधेय (उसका, जिसकी अभिधादि उपाधि है अर्थात् शब्द का) त्रित्व प्रतीत होता है। साहित्यदर्पणकार को भी अभिधादि उपाधियों का त्रित्व अभिप्रेत है न कि उपाधेय का। उपाधेय (शब्द) का त्रित्व तो उपाधित्रित्व के कारण है।

कुमारिल भट्ट मीमांसक ने तात्पर्य नामक एक और भी शक्ति मानी है, किन्तु विश्वनाथ इसे नहीं मानते—

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वय बोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधक परे ॥२।२०॥

अर्थात् पदवाक्यतत्त्ववित् लोकतात्पर्य नामक एक अन्य शक्ति भी माना करते हैं जो वाक्यगत पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों के परस्पर अन्वय अथवा सम्बन्ध का बोध कराती है तथा उसके द्वारा उपस्थापित वाक्यार्थ तात्पर्यार्थ कहलाता है। यह तात्पर्यार्थ (पृथक्-पृथक् पदों का अर्थ नहीं अपितु) वाक्य का अर्थ होता है।

तात्पर्यवृत्ति के मानने वाले मीमांसक अभिहितान्वयवाद के पक्षपाती हैं। अर्थात् प्रत्येक शब्द अर्थ सामान्य के देने वाले होते हैं न कि अर्थ विशेष के। अतः वाक्यगत पदों का परस्पर सम्बद्ध अर्थ तात्पर्य वृत्ति पर निर्भर है। वस्तुतः आकांक्षा, योग्यता, आसक्ति की मनोवैज्ञानिक युक्ति सिद्ध किंवा भाषानुषक्त तत्व सामग्री ही तात्पर्यवृत्ति की आधार-शिला है। जिसे वाक्यार्थ कहते हैं वह पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं अपितु पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध अथवा अन्वयरूप अर्थ है, वस्तुतः तात्पर्यार्थ है। इस प्रकार विश्वनाथ ने तात्पर्यवृत्ति का खण्डन किया है।

लक्षणा और उसके भेदोपभेद

प्रश्न ७—लक्षणा के भेदोपभेदों के सम्बन्ध में विश्वनाथ कविराज की मान्यता की स्पष्ट व्याख्या कीजिए।

उत्तर—कविराज विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में लक्षणा का निरूपण इस-प्रकार किया है—

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो यमान्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥२।५

अर्थात् लक्षणा वह शब्द-शक्ति है जो कहीं मुख्यार्थ (अन्वयबोध) के बाधि
अथवा अनुपपन्न हो जाने पर वहाँ एक ऐसे अर्थ का अवबोधन करवाया कर
है जो कि मुख्यार्थ से (सर्वथा असम्बद्ध नहीं अपितु) किसी न किसी रूप
सम्बद्ध तो अवश्य रहा करता है किन्तु मुख्यार्थ के स्वभाव से भिन्न स्वभाव
ही हुआ करता है और ऐसा होने का कारण या तो रूढि (प्रयोग प्रवाह)
(जो वक्ता के वश में नहीं) या 'प्रयोजन-विवक्षा' (जो वक्ता के अधिकार
बात है)।

लक्षणा के परम्परा से तीन हेतु माने जाते रहे हैं—

(१) मुख्यार्थबाध, (२) मुख्यार्थयोग, (३) रूढ़ि अथवा प्रयोजन। साहि
दर्पणकार की लक्षणा की उपर्युक्त परिभाषा में भी इस 'हेतुत्रय' को लक्षणा
रूप माना है। यहाँ मुख्यार्थबाध के दो अभिप्राय लिये जा सकते हैं-
(१) अन्वयानुपत्ति और (२) तात्पर्यानुपत्ति। इसमें यदि लक्षणा के
में अन्वयानुपत्ति मानी जावे तो 'काकेभ्यो दधि-रक्ष्यताम्' में लक्षणा नही
सकती। किन्तु यह लाक्षणिक प्रयोग है। इसमें 'मुख्यार्थबाध' है किन्तु उ
अन्वय अथवा संसर्ग बोध की अनुपपत्ति नहीं अपितु वक्ता के तात्पर्यभूत वाक्य
के अवबोध का अभाव है। विश्वनाथ ने व्यस्त तथा समस्तरूप से दोनों अ
प्रायों में यहाँ 'मुख्यार्थबाध' को लक्षणा का मूल माना है।

आचार्य विश्वनाथ ने मुख्यार्थ योग के विश्लेषण से प्राप्त लक्षणापञ्
के सिद्धान्त को इन उदाहरणों में घटित किया है—

(१) तात्स्थ्य—कलिंग साहसिकः।

(२) ताद्धर्म्य सम्बन्ध से लक्षणा—गौर्वाहीकः।

(३) तत्सामीप्य सम्बन्ध से लक्षणा—गाङ्गायां घोषः।

(४) तत्साहचर्य सम्बन्ध से लक्षणा—कुन्ताः प्रविशान्ति।

(५) तादर्थ्य सम्बन्ध से लक्षणा—अमी इन्द्रा (इन्द्रार्थासु स्थूणासु)।

काव्यप्रकाशकार मम्मट की भाँति विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में 'रू
और 'प्रयोजन' को लक्षणा के द्विविध नियामक किंवा विभाजकोपधि के
में स्वीकार किया है और लक्षणा भेदों में रूढ़ि किंवा प्रयोजन की उपाधियों
अनुस्यूत मानकर दोनों के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये हैं।

लक्षणा शब्द की 'अर्पिता' शक्ति है, सहजा नहीं। मम्मट ने भी लक्ष
को आरोपित क्रिया ही कहा है—लक्षणारोपिता क्रिया। २।९

लक्षणा को 'समारोपित शब्द व्यापार' भी कहते हैं। वस्तुतः लक्षणा अर्थ-व्यापार है क्योंकि यह तो मुख्यार्थ ही है जोकि अपने तात्पर्य के अनुपपन्न हो जाने पर अपने से किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध अर्थ का अवबोधन हुआ करता है, किन्तु इस मुख्यार्थ के व्यापार को शब्द में इसलिये आरोपित कर दिया जाया करता है क्योंकि अन्ततोगत्वा 'बाधित मुख्यार्थ' शब्द ही तो लक्ष्यार्थ का उत्थापक हुआ करता है।

वस्तुतः तो लक्षणा अर्थनिष्ठ शक्ति है, किन्तु अर्थ व्यापार को शब्द व्यापार के रूप में मानकर इसे शब्दशक्ति कहा करते हैं। अभिधा शब्द का 'शक्यार्थ विषयक' व्यापार है तो लक्षणा शब्द का 'शक्यव्यवहित लक्ष्यार्थ-विषयक' व्यापार है।

विश्वनाथ ने रूढ़ि को लक्षणा माना है, किन्तु 'कर्मणि कुशलः' इस प्रयोग में मम्मट निर्दिष्ट रूढ़ि लक्षणा के खण्डन के लिए यह सिद्ध किया है कि 'कुशल' शब्द लाक्षणिक प्रयोग नहीं अपितु वाचक है। उन्होंने यह युक्ति दी है कि 'शब्द का मुख्यार्थ व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही नहीं, अपितु प्रवृत्तिलभ्य भी हुआ करता है और इस प्रकार 'कुशल' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भले ही लक्षणा का उत्थापक हो किन्तु उसका जो प्रवृत्तिलभ्य अर्थ है, अर्थात् दक्ष अथवा प्रवीण वह तो यही सिद्ध करता है कि कुशल शब्द वाचक है, लाक्षणिक नहीं।'

लक्षणा के भेद-प्रभेद

लक्षणा के भेद-प्रभेद का निरूपण करते हुए विश्वनाथ ने सर्वप्रथम उपादान लक्षणा का वर्णन किया है—

मुख्यार्थ स्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये।
स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा ॥२।६

अर्थात् 'जिस शक्ति के द्वारा किसी शब्द का मुख्यार्थ, किसी वाक्यार्थ में, अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना भी, अपने अन्वय अर्थात् अन्य पदार्थ के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध की सिद्धि के लिए, अपने से भिन्न किसी अर्थ का आक्षेप अथवा प्रत्यायन किया करता है, वह शक्ति 'उपादान लक्षणा' कही जाया करती है। रस लक्षणा में शब्द अपने मुख्यार्थ का परित्याग नहीं किया करता। मम्मट का कथन है कि 'उपादान वह है जिसे वाच्यार्थ का अपने अन्वय की उपपत्ति

अथवा सिद्धि के लिये, अपने से भिन्न अर्थ का आक्षेप करना कहा जाता
स्वार्थपरित्याग के बिना ही स्वार्थ भिन्न अर्थ का प्रत्यायन 'उपादान' है। वै
करणों ने उपादानलक्षणा को अजहत् स्वार्था वृत्ति कहा है। इसका उदाह
'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' है। 'काक' अपने वाच्यार्थ को रखते हुए ही
वाच्यार्थ भिन्न अर्थ अर्थात् 'दध्युपघात प्राणिमात्र' का अवबोधन कर
करता है।

यह उपादान लक्षणा 'रूढ़ि' अथवा प्रयोग-प्रवाह की दृष्टि से 'श
धावति'—सफेद दौड़ रहा है इत्यादि प्रसंगों में और 'प्रयोजन' अथवा' अ
प्राय विशेष के प्रकाशन की दृष्टि से 'कुन्ताः प्रविशन्ति'—भाले प्रवेश कर
हैं, आदि प्रसंगों में देखी जा सकती है। श्वेत (सफेद रंग) और कुन्त (भा
दोनों चेतना शून्य वस्तुएं हैं। श्वेतो धावति—उपादान लक्षणा का उदाहर
क्योंकि इसमें अभिप्राय विशेष का प्रकाशन नहीं है, कुन्ता प्रविशन्ति—में
अभिप्राय विशेष का प्रकाशन किया जा रहा है वह है 'कुन्तों की अति गहन
किसी गहन वन के वृक्षों की सी असंख्येयता, जिसके देखते ही लोग भाग
हों। उपादान लक्षणा में—

(१) शब्द का मुख्यार्थ अपने से भिन्न अर्थ को लक्षित करता है।

(२) अपने मुख्यार्थ को भी नहीं छोड़ता।

(३) यह लक्षण लक्षणा से भिन्न है जिसमें अपने मुख्यार्थ को छोड़
शब्द भिन्न अर्थ लक्षित करता है।

लक्षण लक्षणा का निरूपण विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है—

अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वय सिद्धये।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षण लक्षणा ॥२।७

अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा किसी शब्द का मुख्यार्थ किसी वाक्यार्
अपने स्वरूप का इसलिये सर्वथा परित्याग कर दिया करता है, जिससे
उससे भिन्न, किन्तु किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध किसी अर्थ का युक्ति
समन्वय स्थापित हो जाय और ऐसा करते हुए वह (मुख्यार्थ) एकमात्र लक्ष
का उपलक्षक बन जाया करता है, वह शब्द शक्ति 'लक्षण लक्षणा' कही ज
करती है।

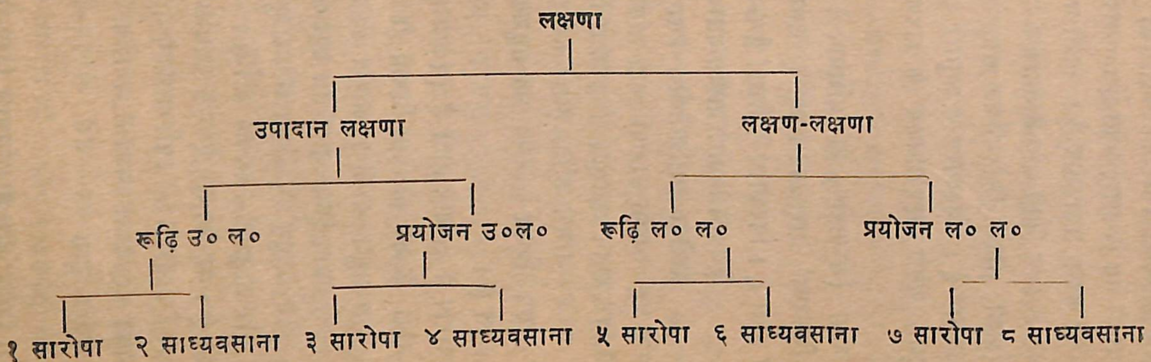
'लक्षण' का तात्पर्य मम्मट के अनुसार 'पदार्थ स्वसमर्पणम्' (२।१०
अर्थात् अनुपपन्न होने वाले मुख्यार्थ का, मुख्यार्थ भिन्न अर्थ के लिए आ

समर्पण। उपादान में स्वार्थ का अपरित्याग है तो लक्षण में स्वार्थ का परित्याग है। पदार्थ को लक्षित करना दोनों में प्राप्त होता है। उपादान लक्षणा अजहत् स्वार्था वृत्ति है तो लक्षण-लक्षणा जहत्स्वार्थावृत्ति अर्थात् स्वार्थपरित्यागपूर्वक परार्थ की अभिधायिका वृत्ति।

लक्षण लक्षणा के दो भेद

(१) रूढ़ि अवस्था में—कलिङ्ग साहसिक:, कलिङ्ग साहसी है। यह विशेषरूप अर्थ रूढ़ि अवस्था में है।

(२) गङ्गायां घोष:—गंगा शब्द अपने आपको लक्ष्यार्थ अर्थात् तट रूप अर्थ के लिए सर्वथा सौंप चुका है।



उपर्युक्त चारों प्रकार की लक्षणाओं में 'आरोप' और 'अध्यवसान' कारण दो-दो भेद दिखलाई पड़ते हैं। 'आरोप' और 'अध्यवसान' उपचार ही रूप-भेद अथवा प्रकार-भेद हैं। किसी न किसी निमित्त विशेष से कि अन्य वस्तु के लिए किसी अन्य वस्तुवाचक शब्द का प्रयोग करना उपचार है जैसे 'यष्टिकां भोजय' में निमन्त्रित ब्राह्मणादि के लिए 'यष्टिका' शब्द प्रयोग उपचार है। विश्वनाथ के अनुसार उपचार का अभिप्राय परस्पर भि दो वस्तुओं, उनके सादृश्यातिशय के कारण, भेद के अवभास का स्थगित जाना।

सारोपा (अध्यारोप) का अभिप्राय है दो परस्पर भिन्न पदार्थों 'समानाधिकरण्य' द्वारा निर्देश क्योंकि उनमें सादृश्यातिशय के कारण अभे अभिप्रेत होता है। विश्वनाथ ने लिखा है—

विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्य प्रतीतिकृत्।
सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका ॥२।८

अर्थात् वह लक्षणा सारोपा कही जाती है जिसमें आरोप विषय अ स्वरूप में विराजमान रहते हुए भी अपने से भिन्न अर्थात् विषय (आरोप्यमा के साथ एकरूप-अभिन्न-प्रतीत हुआ करता है। जिसमें 'विषयी' के द्वा आच्छन्न स्वरूप विषय के अभेद का अनुभव होता है, उसे 'साध्यवसानि लक्षणा' कहते हैं।

अध्यारोप में दो बातें होती हैं (१) अध्यारोप्य और (२) आरोप विष जब इन दोनों के भेद को बिना छिपाये ही पहली वस्तु पर दूसरी वस्तु जो उससे अधिक गुण वाली हो आरोप किया जाय, पहली के लिए दूसरे वाचक पद का प्रयाग किया जाय, तब वहाँ यह समझा जाता है कि अध्यारो हुआ है। जैसे 'आयुर्घृतम्'—घृत और आयु भिन्न हैं किन्तु घृत आयुवृद्धि कारण है और आयु घृत-सेवन का फल है। आयुष्य के कारण को आयु क उपचार ही है। यह उपचार ऐसा है जिसमें विषय और विषयी दोनों अप अपने वाचक शब्दों द्वारा उपस्थित किये गए हैं। अध्यवसान का तात्पर्य आरोप विषय का आरोप्यमाण में अन्तर्लय जिसमें 'आरोप विषय' का स्व पृथक् न प्रतीत हुआ करे—जैसे गौरयम्-गौः में अयम् कोई निर्दिष्ट पु विशेष का अन्तर्लय।

आरोप-विषय और आरोप्यमाण (विषयी) का भेदपूर्वक जो उपन्यास

वह 'आरोप' है। आरोप्यमाण (विषयी) के द्वारा आरोप-विषय का जो तिरोभाव अथवा स्वरूपापह्नव है, वह अध्यवसान' है।

लक्षणा के सारोपा होने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की लक्षणा आरोप के विषय और उसके विषयी में ऐसा अभेद बतलाती है, जिसमें 'विषय' का स्वरूप 'विषयी' के द्वारा ढका-ढकाया नहीं प्रतीत होता। यही लक्षण वस्तुत: रूपक अलंकार का बीज है।

रूढाउपादान—

लक्षणा सारोपा का उदाहरण—अश्व:श्वेतो धावति।

उपादानवती सारोपा लक्षणा—एते कुन्ता: प्रविशन्ति।

रूढ सारोपा लक्षण लक्षणा—कलिङ्ग पुरुषो युध्यते।

प्रयोजनवती सारोपा लक्षण-लक्षणा—आयुर्घृतम्।

लक्षणा के साध्यवसाना होने का अभिप्राय यह है कि जिसमें 'विषयी' के द्वारा अन्तर्हित किये हुए विषय का विषयी के साथ तादात्म्य अथवा अभेद बताया जाया करता है। इस लक्षणा के चारों प्रकारों को उपर्युक्त सारोपा लक्षणा के उदाहरणों के किंचित परिवर्तन द्वारा समझा जा सकता है—

रूढ साध्यवसाना उपादानलक्षणा—श्वेतो धावति।

प्रयोजनवती साध्यवसाना उपादानलक्षणा—कुन्ता: प्रविशन्ति।

रूढ साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा—कलिङ्ग साहसिक:।

प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा—गङ्गायां घोष:।

आरोप की भाँति 'अध्यवसान' में भी तादात्म्य अथवा अभेद की ही प्रतीति हुआ करती है। किन्तु आरोप में होने वाली अभेद प्रतीति की अपेक्षा 'अध्यवसाव' में होने वाली अभेद प्रतीति अधिक उत्कट हुआ करती है—

आरोपादभेदेऽध्यवसाय: प्रकृष्यते-अलंकारसर्वस्व। इसका कारण यही है कि अध्यवसान में विषय (उपमेय) और विषयी (उपमान) पृथक् रूप से निर्दिष्ट नहीं रहा करते। अध्यवसान में तो विषयी (उपमान) अपने विषय (उपमेय) को ऐसे ढक लिया करता है कि विषयी के अतिरिक्त विषय का अस्तित्व ही नहीं रह पाता। यह अध्यवसान उत्प्रेक्षा अलङ्कार का बीज है।

ये उपर्युक्त चार प्रकार की सारोपा और चार प्रकार की साध्यवसाना लक्षणायें भी 'शुद्धा' और 'गौणी' इन दो भेदों में विभक्त होकर १६ प्रकार

की हुआ करती हैं। शुद्धा का अभिप्राय है उपर्युक्त अष्टविध लक्षणाओं साहृश्यरूप सम्बन्ध से भिन्न प्रकार के ही सम्बन्ध जैसे कार्यकारणभावादि सम्बन्ध का पाया जाना। 'गौणी' का तात्पर्य है उपर्युक्त अष्टविध लक्षणा में साहृश्यसम्बन्ध का ही प्रयोजक होना।

समानता (साम्य)—लक्षणा चाहे शुद्धा हो या गौणी हो, मुख्यार्थ अनुपपत्ति के साथ-साथ मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के परस्पर सम्बन्ध पर अवलम्बित है। अनुपपत्ति (मुख्यार्थ बाध) सम्बन्ध (मुख्यार्थयोग) ि 'प्रयोजन' की दृष्टि से 'अग्निमणिवकः' और 'गङ्गायां घोषः' इन गौणी शुद्धा लक्षणा प्रयोगों में कोई भेद नहीं।

आठ प्रकार की जो प्रयोजनवती लक्षणायें बतायी जा चुकी हैं, उ प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यार्थ के गूढ (सहृदयजन्संवेद्य) किंवा अगूढ (सर्वजनसं होने के कारण, प्रत्येक के दो-दो भेद हुआ करते हैं जिससे इसके सोलह सिद्ध होते हैं। ये १६ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणायें भी अपने व्यङ्ग प्रयोजन के धर्मिगत किंवा धर्मगत होने के कारण दो-दो भेदों में विभक्त जाया करती हैं। इस प्रकार इनके ३२ भेद हो जाते हैं। लक्षणा के चा भेद इस प्रकार सिद्ध होते हैं—

(१) रूढ लक्षणा आठ प्रकार की।

(२) प्रयोजनवती लक्षणा—बत्तीस प्रकार की।

ये ४० प्रकार की लक्षणायें 'पदगत' और 'वाक्यगत' रूप से दो प्रका विभक्त होकर ८० हो जाती हैं।

डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है 'लक्षणाशक्ति के उपर्युक्त बहुविध ि का निर्देश साहित्यदर्पणकार की समीक्षा दृष्टि का परिणाम है। इस आचार्य महिमभट्ट के पदार्थ-वाक्यार्थ-वैविध्यनिरूपण का पर्याप्त प्रभाव रहा है। इससे प्रभावित होकर बाद के आलंकारिकों ने 'लक्षणा और रूप अलंकार के भूमिकाबन्ध' का प्रर्याप्त विवेचन किया है।

डा० सत्यव्रतसिंह ने काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के लक्षणा नि की तुलना करते हुए लिखा है—'काव्यप्रकाशकार ने लक्षणा के प्रयोज से 'मुख्यार्थबाध', 'मुख्यार्थयोग', 'रूढ़ि अथवा प्रयोजन का स्पष्ट परि किया है किन्तु विश्वनाथ ने मुख्यार्थबाध, रूढि अथवा प्रयोजन का ही परि किया है। यहाँ यही प्रतीत होता है कि वह शब्द, जिसका मुख्य अर्थ अनु

होने लगता है, रूढ़ि अर्थात् प्रयोग-प्रवाह अथवा प्रयोजन-प्रतिपादन के कारण, अपने मुख्य अर्थ से, किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध एक अन्य अर्थ को देने लगता है और ऐसा करने में उनमें जो शक्ति उत्पन्न हो जाया करती है उसका नाम 'लक्षणा' है। अभिधा तो शब्द की स्वाभाविक शक्ति है और लक्षणा आरोपित अथवा काल्पनिक शक्तियों का शब्द और उसके लक्ष्यार्थ के बीच अनुपपन्न मुख्यार्थ का व्यवधान अनिवार्य है।

वैसे काव्यप्रकाश के लक्षणा-लक्षण में 'मुख्यार्थ बाध' और 'मुख्यार्थयोग' दोनों को लक्षणप्रयोजक मानने में, गौरव होने पर भी, कुछ स्पष्टता अवश्य है किन्तु साहित्य-दर्पण की लक्षणा-परिभाषा में 'मुख्यार्थबोध' होने पर रूढि या प्रयोजनवश, मुख्यार्थ सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति को जो 'लक्षणा' माना गया है उसमें 'लाघव' होने पर भी कुछ क्लिष्टता दिखायी ही दे जाती है। लाघव भी हो तो ऐसा हो जैसा 'रसगंगाधरकार के लक्षणा-निरूपण में है—शक्य-सम्बन्ध लक्षणा।'

डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि 'विश्वनाथ कविराज ने 'लक्षणा' के सम्बन्ध में कतिपय ऐसी बातों का भी निर्देश किया है, जिन्हें काव्यप्रकाश-कार ने सोच-समझ कर छोड़ दिया है। जैसे कि काव्यप्रकाशकार ने व्यंग्यार्थ-गर्भता के आधार पर लक्षणा के दो भेद गिनाए हैं—(१) गूढ व्यंग्या और (२) अगूढ व्यंग्या। किन्तु विश्वनाथ ने इनमें भी प्रयोजन के 'धर्मिगत' और 'धर्मगत' भेद निर्दिष्ट कर दिये हैं जिससे प्रयोजनवती लक्षणा की भेद-संख्या बढ़ गयी है।' इससे लक्षणा का विस्तार हो गया है और व्यंजना का स्वरूप सङ्कीर्ण हो गया है। विश्वनाथ जैसे व्यंजनावार्ध काव्याचार्य के लिए लक्षणा निरूपण में बाल की खाल निकालना अपेक्षित नहीं है, क्योंकि तब तो व्यंजना का बहुत बड़ा क्षेत्र लक्षणा में समा जायगा।

रससिद्धान्त के पोषक आचार्यों में विश्वनाथ का स्थान

प्रश्न ८—रस सिद्धान्त का पोषण करने वाले आचार्यों में विश्वनाथ का स्थान निर्धारित कीजिए।

उत्तर—रस सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि माने जाते हैं। भरत-मुनि के पूर्ववर्ती नन्दिकेशर आचार्य का उल्लेख भी मिलता है, किन्तु उनके सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी न होने के कारण भरत को ही रस-सम्प्रदाय का

प्रवर्तक माना जाता है। भरतमुनि ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ नाट्यशास्
लिखा है—

नहि रसादृते कश्चिदर्थ-प्रवर्त्तते।

काव्य मीमांसाकार राजशेखर ने भी रस को काव्य की आत्मा माना

शब्दार्थौ ते शरीरं रस आत्मा।

रस सिद्धान्त का विवेचन करने वाले काव्यशास्त्रियों के दो वर्ग हैं—

(१) एक वर्ग रस को अलंकार आदि के अन्तर्गत ही मानता है। इस
के आचार्यों में भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि आते हैं।

(२) दूसरा वर्ग रस को प्रमुखता देता है। इस वर्ग में कविराज विश्व
आनन्दवर्धन, जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ, राजशेखर आदि आते हैं।

कविराज विश्वनाथ ने प्रथम बार काव्य को रस की आत्मा मान
स्पष्ट शब्दों में लिखा—

वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्।

रसयुक्त वाक्य ही काव्य है। इस प्रकार रस को प्रमुखता देने
आचार्यों में कविराज का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

रस स्वरूप के सम्बन्ध में विश्वनाथ ने लिखा है—

सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः
स्वाकारादभिन्नत्वेनाममास्वाद्यते रसः।

'अर्थात् चित्त में सत्त्वोगुण के उद्रेक की स्थिति में विशिष्ट संस्का
सहृदय जन अखण्ड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से
ब्रह्मास्वाद सहोदर लोकोत्तर चमत्कार प्राण रस का निज स्वरूप से अभि
आस्वादन करते हैं।'

(१) रस का आविर्भाव सत्त्वगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है—अ
विश्वनाथ का स्पष्ट मत है कि सत्वगुण के उद्रेक के क्षणों में ही रसा
होती है, अन्य क्षणों में नहीं। जब सामाजिक का हृदय सांसारिक राग-
मुक्त हो जाता है, उसके चित्त में विशदता उत्पन्न हो जाती है, तभी वह र
अलौकिक आनन्द का अनुभव कर सकता है। नाट्य के देखने अथवा का
पढ़ने से मानव हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है, जो उस क्षण उसकी

पर पड़े रजोगुण और तमोगुण के आवरण को दूर कर देता है और जीवात्मा को सत्त्वगुण से भर देता है। उस समय जीवात्मा में समस्त जगत से तादात्म्य अनुभव करने की शक्ति आ जाती है। तब वह ब्रह्म सत्ता में लीन हो जाती है। उस व्यक्ति के चित्त की स्थिति साधारणीकृत हो जाती है और तब वह रस की अनुभूति कर सकता है। यही कारण है कि विश्वनाथ ने रस की सत्ता सत्त्वगुण के उद्रेक की स्थिति में मानी है।

(२) **रस अखण्ड है**—विश्वनाथ की मान्यता है कि रस अखण्ड स्वरूप वाला है। रसानुभूति में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि की पृथक्-पृथक् अनुभूति नहीं होती, वरन् सभी की समन्वित अथवा एकान्वित अनुभूति होती है। इस प्रकार समूहावलम्बनात्मक प्रतीति रस की एक विशेषता मानी जाती है। रस की अखण्डता का एक तात्पर्य यह भी है कि रसानुभूति में आत्मा का पूर्ण तन्मयीभाव रहता है, अतः उसमें मात्रा-भेद या कोटियाँ नहीं होतीं। पूर्णता में तारतम्य की सम्भावना नहीं होती, क्योंकि पूर्ण से पूर्णतर की कल्पना नहीं की जा सकती और जो पूर्ण से कम है, वहाँ रस की स्थिति नहीं हो सकती।

(३) **रस अन्य ज्ञान से रहित है**—विश्वनाथ का मत है कि रस अखण्ड होने के कारण अन्य ज्ञान से रहित है। जब प्रमाता की पूर्ण तन्मयीभाव की स्थिति हो जाती है तो वह स्व, पर, तटस्थ की भावना से मुक्त हो जाता है और तब अन्य ज्ञान होने का प्रश्न हीं नहीं उठता।

(४) **रस स्वप्रकाशानन्द और चिन्मय है**—विश्वनाथ का मत है कि रस की उत्पत्ति नहीं होती, वरन् अभिव्यक्ति होती है। वह तो ब्रह्म के समान स्वयं प्रकाशमान तत्त्व है। रस एक नित्य तत्त्व है, जो रजोगुण, तमोगुण आदि के मायाजन्य आवरण से आवृत रहता है और नाट्य देखने से अथवा काव्य श्रवण से पठन से मायाजन्य आवरण के लुप्त होने और सत्वोद्रेक होने से रस स्वतः प्रकाशित हो जाता है। इस प्रकार रसानुभूति आत्म-चेतना के प्रकाश से प्रकाशित होती है। इसमें ऐन्द्रिय आनन्द का अभाव और चैतन्य आत्मास्वाद का सद्भाव होता है।

(५) **रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण है**—विश्वनाथ का मत है कि रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण है, अलौकिक है, क्योंकि यह न प्रत्यक्ष अनुभव है और

न परोक्ष अनुभव है, न कार्य है, न ज्ञाप्य है और न निर्विकल्पक या सविकल्पक ज्ञान है। प्रत्यक्ष अनुभव में प्रमाता राग-द्वेष से युक्त होता है, रसानुभूति में वह राग-द्वेष से विनिर्मुक्त होता है। रस परोक्ष अनुभव भी नहीं है, क्योंकि परोक्ष का साक्षात्कार नहीं हो सकता, किन्तु रस का साक्षात्कार होता है। इसको कार्य भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रत्येक कार्य अपने कारण के नष्ट हो जाने पर विद्यमान रहता है, जैसे कुम्हार के मर जाने पर भी घट रूप कार्य नष्ट नहीं होता। किन्तु रस अपने कारण विभावादि के नष्ट होने पर विद्यमान नहीं रहता, अतः यह कार्य नहीं है। रस को ज्ञाप्य भी नहीं कह सकते। ज्ञाप्य का अर्थ है जिस वस्तु का ज्ञान किसी दूसरी वस्तु से हो। इस का ज्ञान कराने वाली वस्तु को ज्ञापक कहते हैं। जैसे अन्धकार में रखे हुए घट का दीपक से ज्ञान होगा, अतः घट ज्ञाप्य है और दीपक ज्ञापक। ज्ञाप्य की विद्यमानता पहले से ही होनी चाहिए, तभी ज्ञापक के द्वारा उसका ज्ञान हो सकता है। किन्तु रस के साथ ऐसा नहीं है। रस पहले से विद्यमान नहीं होता। उसका अनुभव तो तभी होता है जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का स्थायी भाव से संयोग होता है। इसीलिए रस को ज्ञाप्य भी नहीं मान सकते। रस निर्विकल्पक ज्ञान भी नहीं है, क्योंकि इस ज्ञान में 'कुछ है' ऐसी प्रतीति होना आवश्यक है, किन्तु रस तो विशेष रूप से भासित होता है। उसमें निर्विकल्पकता या संदेहात्मकता के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि संदेह की स्थिति में रसानुभूति नहीं हो सकती। सविकल्पक ज्ञान के विषय घट, पट आदि शब्दों द्वारा कहे जाते हैं और उन्हीं से उनका बोध हो जाता है, किन्तु रस का नाम लेने से रसानुभूति नहीं होती। इन्हीं सब कारणों से रस को लोकोत्तर चमत्कार प्राण माना जाता है।

(६) **रस ब्रह्मास्वाद सहोदर है**—विश्वनाथ ने रस को ब्रह्मास्वाद नहीं वरन् उसका सहोदर माना है। ब्रह्मास्वाद में जिस प्रकार अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है, वैसी ही अलौकिक आनन्ददायिनी रसानुभूति भी होती है। इन दोनों में अन्तर भी है—ब्रह्मास्वाद स्थायी होता है और रसास्वाद अस्थायी। ब्रह्मास्वाद में लौकिक विषयों का पूर्णतया तिरोभाव हो जाता है किन्तु रसास्वाद में इनका क्षणिक तिरोभाव होता है, पूर्ण रूपेण नहीं। इसी लिए विश्वनाथ ने रस को ब्रह्मास्वाद न कहकर उसका सहोदर या उसके समान कहा है।

(७) **रस वेद्यान्तर स्पर्श शून्य है**—विश्वनाथ का मत है कि रसानुभूति के समय जानी हुई या जानने योग्य समस्त वस्तुओं का ज्ञान विलीन होकर ऐसी तन्मयता आ जाती है कि प्रमाता को आत्मसत्ता भी रसमय ही प्रतीत होती है। इस प्रकार प्रमाता को विश्व के किसी भी पदार्थ की प्रतीति नहीं होती।

(८) **रस अपने रूप से अभिन्न है**—विश्वनाथ का मत है कि रस मूलतः आस्वाद रूप है, आस्वाद पदार्थ नहीं है, फिर भी व्यवहार में 'रस' का आस्वादन किया जाता है, ऐसा प्रयोग प्रचलित है। इसीलिए विश्वनाथ ने रस को अपने रूप से अभिन्न बताया है।

विश्वनाथ का मत है कि रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण है, अतः कुछ ही प्रमाता इसका आस्वादन कर पाते हैं—

लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः
स्वीकारादभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥

इस प्रकार विश्वनाथ रस-आस्वादन के लिए प्रमाता में योग्यता को अनिवार्य मानते हैं। उन्होंने एक अन्य स्थान पर स्पष्ट लिखा है कि जिन लोगों में वासना होती है, वे ही लोग रसास्वादन कर पाते हैं, अन्य लोग नहीं।

पण्डितराज जगन्नाथ का भी यही मत है कि प्रमाता की चेतना में वासना रूप में स्थायी भाव की सत्ता सदैव निहित रहती है, किन्तु आवरणों में छिपी रहती है, आवरण भंग होते ही स्थायी भाव प्रकट हो जाता है, जो आनन्द को अपने भीतर समाए रहता है। इस प्रकार स्थायी भाव की आनन्दमयी चेतना ही पण्डितराज के मत में रस कहलाती है।

निष्कर्ष—विश्वनाथ रस प्रमुख आचार्य हैं। उन्होंने 'रस' शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। इसके अन्तर्गत वे रसाभास, भाव, भावाभास, भावसन्धि, भावशबलता तथा भावशान्ति आदि को भी ग्रहण करते हैं। इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ का काव्यलक्षण एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की स्वीकृति है कि 'रस' काव्य में प्रमुख है, काव्य का आत्मस्वरूप है। रसवाद के कट्टर समर्थक होने के कारण विश्वनाथ का काव्य-लक्षण 'रस' को प्रमुखता प्रदान करने वाला है। इसमें आनन्दवर्धनाचार्य की 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' की विचारधारा केन्द्रित है। विश्वनाथ ने प्रथम बार काव्य-लक्षण में 'रस' शब्द को रखा है। उन्होंने काव्य के प्रयोजन में सहृदय तथा कवि के साथ ही काव्य समीक्षक को भी स्थान दिया है। उनका साहित्यदर्पण काव्यशास्त्र का प्रस्थान ग्रन्थ तो नहीं है

किन्तु उसमें काव्यशास्त्र का संग्रह इतने सुन्दर एवं स्पष्ट ढंग से किया ग कि वह अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है। उन्होंने 'रस की प्रधानता' को जिस प्रतिपादित किया, वह ढंग या शैली सर्वतोभद्र एवं मान्य हुई है। उनका मत' का विवेचन अपनी विशिष्टता रखता है।

वश्वनाथ के रस-निरूपण का वैशिष्ट्य

प्रश्न ६—"रस के स्वरूप का निरूपण करने में आचार्य विश्व अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है।" इस कथन की वि कीजिए।

उत्तर—रस का प्रख्यात प्राचीनतम लक्षण तो भरतमुनि द्वारा प्रति यह रससूत्र है—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

सम्भव है यह सूत्र भरममुनि से पूर्व भी प्रचलित रहा हो किन्तु भ द्वारा प्रतिष्ठित कर दिये जाने के बाद इसे निरन्तर मान्यता मिलती र अभिनवगुप्त तक इस लक्षण की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती रह के स्वरूप पर आचार्य अभिनवगुप्त ने जो प्रकाश डाला, वही परवर्ती द्वारा मान्य हुआ। उन्ही की यान्यताओं को परवर्ती काव्यशास्त्र के स आचार्यों—मम्मट, विश्वनाथ आदि ने अपने रूप में ढाल लिया। आचार्यों में से विश्वनाथ का यह प्रसंग संग्रह और व्यवस्था दोनों दृ विशिष्ट है।

आचार्य विश्वनाथ ने रस के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए लिखा

सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।।३।२
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ।।३।३।

अर्थात् सहृदय सामाजिक जन ही उस काव्यानन्द अथवा नाट्य अनुभव किया करते हैं, जिसे, 'रस' कहा जाया करता है। इस अनुभव उन्हें तभी हो पाता है, जबकि उनके हृदय में काव्य नाट्य-प की महिमा से सत्त्व का उद्रेक अथवा प्राबल्य हो जाया करता है। स्वरूप कैसा है? विश्वनाथ का कथन है कि 'यह सहृदय हृदय के अ विषय 'रस' एक **अखण्ड अनुभव** है, क्योंकि इसमें विभावादि का पृ

नुभव असम्भव है। यह रस **स्वयंप्रकाश** किंवा आनन्दमय रत्यादि संवेदन रूप है, क्योंकि रस रूप संवेदन स्वयं प्रकाशित हुआ करता है, किसी अन्य ज्ञान का विषय नहीं बना करता। यह रस **आनन्दमय** है। यह रस **चिन्मय** है। यह रस **वेद्यान्तर स्पर्श शून्य** है अर्थात् यह एक ऐसा अनुभव है जिसके साथ अन्य किसी भी ज्ञेय वस्तु का स्पर्श नहीं हो सकता यह रस **ब्रह्मास्वाद सहोदर** है। रस के अनुभव को यदि किसी भी अन्य अनुभव के समान बताया जा सके तो वह अनुभव एकमात्र आत्मसाक्षात्कार ही हो सकता है, अन्य नहीं। यह रस **लोकोत्तरचमत्कारप्राण** है। इस अनुभव का सार एक अलौकिक चमत्कार है और यह अनुभव, यह आस्वाद ऐसा है जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का कोई भेद उसी प्रकार नहीं आभासित हुआ करता, जिस प्रकार आत्मस्वरूप के साक्षात्कार अथवा ब्रह्मानन्द के अनुभव में।

संक्षेप में आचार्य विश्वनाथ ने रस के स्वरूप का निरूपण करते हुए, उसकी निम्नलिखित सात विशेषताएँ बताई हैं—

(१) रस अखण्ड है।
(२) रस स्वयंप्रकाश है।
(३) रस आनन्दमय है।
(४) रस चिन्मय है।
(५) रस वेद्यान्तरस्पर्श शून्य है।
(६) रस ब्रह्मास्वाद सहोदर है।
(७) रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण है।

(१) रस अखण्ड है—रस का एक अखण्ड अनुभव होता है। रस उस स्थायी-भाव का ही दूसरा नाम है जो विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के संयोग से एक समन्वित रूप में प्रस्तुत होता है। वस्तुतः इन सबके 'समूहात्मक ज्ञान' को ही रस कहते हैं, क्योंकि रस रत्यादि और विभावादि के ज्ञान से नितान्त अभिन्न होता है। रस अपने अंशों से निर्मित है, किन्तु उसके किसी एक अंश अथवा एकाधिक अंशों को उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रपानकर सन्याय के अखण्ड रूप का नाम रस है।

(२) रस स्वयंप्रकाश है—जिस प्रकार सूर्य को दिखाने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार रस भी स्वयंप्रकाशित होता है। यह अपने आकार से अभिन्न होता है।

(३) **रस आनन्दमय है**—रस की स्थिति में सत्वगुण आविर्भूत रह और शेष दो गुण तिरोभूत हो जाते हैं, किन्तु बने रहते हैं।

(४) **रस चिन्मय है**—चित् अथवा चिति का अर्थ है चेतनता अथवा स (ज्ञान)। रस चिद्रूप, चितिरूप अथवा संविद्‌रूप (ज्ञानरूप) अर्थात् चेत रूप है। वेदान्ती केवल आत्मा को चित् अर्थात् शुद्ध चेतन मानते हैं, अत को चित् न कहकर चिन्मय कहा गया है। 'रस' आत्मा के समान शुद्ध चेत होकर चेतनता-प्रधान है, अर्थात् रस-स्थिति में अचेतनता का अंश-अत्यल्प में सही—अवश्य विद्यमान रहता है, अर्थात् रस सचेतन अथवा प्रा आनन्द है।

(५) **रसवेद्यान्तरस्पर्श शून्य है**—उसके आस्वादके समय अन्य किसी प्र के वेद्य अर्थात् ज्ञान का स्पर्श तक नहीं हो पाता। नाट्य के दर्शक को यह भूल जाता है कि वह नाट्यगृह में बैठा है। रसस्वाद के समय किसी सांस घटना अथवा विचार का स्मरण नहीं आता।

(६) **रस ब्रह्मास्वाद सहोदर है**—रस के द्वारा सहृदय लगभग आस्वाद प्राप्त करता है, जितना कोई साधक योगी ब्रह्मप्राप्ति द्वारा, किन् दोनों में अन्तर है। ब्रह्मास्वाद की प्राप्ति के समय योगी ऐन्द्रिय विका नितान्त विमुक्त होता है, किन्तु काव्यास्वाद के समय सहृदय तत्काल के ही ऐन्द्रिय विकारों से विमुक्त होता है। वस्तुतः यह विमुक्ति आध्यात्मिक की विमुक्ति से न्यून है। काव्यास्वाद-प्राप्ति के समय सहृदय के रति भावों की परिष्कृति हो जाती है, किन्तु विनाश नहीं होता। ब्रह्मास्वाद विनष्ट हो जाते हैं और पुनः अंकुरित नहीं होते।

(७) **रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण है**—रस का प्राण लोकोत्तर च है। विश्वनाथ के अनुसार—

चमत्कारिश्चिन्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः ।३।२

चमत्कार का अर्थ है विस्मय अर्थात् चित्त का विस्तार। चमत्कार का विकासजनक आह्लाद है।

रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण का समग्र रूप में अर्थ 'रस लोको चित्त विकास जनक आनन्द से युक्त है।' इस लोकोत्तर का दूसरा न पर्याय 'अलौकिक' शब्द मम्मट ने माना है। अलौकिक का वाच्यार्थ इहलो

इतर अन्य लोक का है किन्तु लोकोत्तर का वाच्यार्थ है इहलोक में उत्तर अर्थात् सर्वाधिक, सर्वातिशायी; सर्वोपरि ।

साहित्यदर्पणकार का मन्तव्य है कि रस लोकोत्तर आह्लादवान है, इसका अर्थ है कि रस का आह्लाद है तो इहलौकिक किन्तु वह इस लोक के अन्य आह्लादों से सर्वोपरि है—

'लौकिकशोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयो जायन्ते इति लोक एव प्रतिनियमः । काव्ये पुनः सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते ।'[1]

"लौकिक भावनाओं से मानव को सुख भी मिलता है और दुःख भी । काव्य में रस का आनन्द लौकिक होते हुए भी केवल सुखात्मक होता है, किन्तु यह सुख सामान्य कोटि का न होकर उत्कृष्ट कोटि का होता है, अतः इसे लोकोत्तर आनन्द कहते हैं । उधर आध्यात्मिक क्षेत्र का आनन्द इन दोनों प्रकार के आनन्दों से विभिन्न केवल अलौकिक ही कहा जा सकता है । रस लौकिक आनन्द है, अतः इसे ब्रह्मास्वाद न कहकर ब्रह्मास्वाद सहोदर कहा गया है ।"

आचार्य विश्वनाथ ने रस को 'लोकोत्तर चमत्कार प्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः' कहा है । 'कैश्चित्' का अर्थ है 'कुछ विरले लोगों के द्वारा ही' रस का आस्वाद लिया जाया करता है । रसास्वाद के भागी वे ही लोग हुआ करते हैं, जो पूर्वजन्म के संचित काव्यार्थपरिशीलन पुण्य से परिपूत रहा करते हैं । कहा भी गया है—

पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम् ।

"वे ही लोग रससंदोह का आनन्द लिया करते हैं, जो ब्रह्मदर्शी योगियों की भाँति पुण्यात्मा हुआ करते हैं ।"

निष्कर्ष यह है कि विश्वनाथ का रस के स्वरूप का निरूपण रसध्वनिवाद से अनुप्राणित होते हुए भी उनकी प्रतिभा का परिचायक है ।

विश्वनाथ का रसमत रसध्वनिवाद की परम्परा में

प्रश्न १०—"विश्वनाथ कविराज का 'रसमत' रसध्वनिवादी काव्याचार्यों की रसविषयक मान्यताओं का सारसंक्षेप और पुष्टीकरण है ।" इस कथन की स्पष्ट विवेचना कीजिए ।

---

१. साहित्यदर्पण ३/७ वृत्ति

उत्तर—विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में काव्या-त्मत्त्व रस का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ॥३।१

अर्थात् 'सहृदय-हृदय में वासनारूप से विराजमान रत्यादि रूप स्थायीभा[व] जब कविवर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के द्वारा अभिव्वक्त ह[ो] उठते हैं, तब आस्वाद अथवा आनन्दरूप हो जाते हैं और 'रस' कहे जा[ने] करते हैं।

डा० सत्यव्रतसिंह के शब्दों में "विश्वनाथ की यह रस-परिभाषा नाट्या-चार्य भरतमुनि के रस-सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' [की] एक सुन्दर एवं सरल विवृत्ति है। इस रस परिभाषा में 'कविकृत विभावा[दि] योजना और सहृदय की रत्यादि वासना की रसमयता' में व्यङ्ग्यव्यंजक भा[व] रूप सम्बन्ध की अनिवार्य मान्यता का वही रहस्य झलक रहा है जो कि र[स] ध्वनि के प्राचीन आचार्यों की भावना में आ चुका है। आचार्य अभिनव गु[प्त] ने कविकृत विभावादिवर्णना द्वारा सहृदय हृदय में रत्यादि स्थायीभाव की र[स] रूप में अभिव्यक्ति की यही सिद्धि की है, अर्थात् 'नाट्य अथवा काव्य में रस[-] रूप प्रतीति तो निर्विवाद है। नाट्य अथवा काव्य पर कवि और सहृदय दो[नों] की दृष्टियों से दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि रसभावना ही एकमा[त्र] नाट्य अथवा काव्य का साध्य है और नाट्य काव्य का अभिव्यंजना-व्याप[ार] ही इस रसभावना का साधन है जिसमें समुचित शब्दार्थ योजनादि की इ[ति] कर्तव्यता (उपकारिता) भी स्वभावतः सिद्ध है। काव्य-नाट्य को रस 'भावक' कहने में वस्तुतः यही अभिप्राय मन में रखना चाहिये कि काव्य-ना[ट्य] रस का व्यंजक है। रस का भोग अथवा आस्वाद भी काव्य नाट्य के [ही] अलौकिक अभिव्यंजना व्यापार से ही सम्भव है। 'रसभोग' और 'रस[-] व्यङ्ग्यता का एक ही अभिप्राय है, एक ही रहस्य है।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट की भी यही रसदृष्टि है—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानिच ।
रत्यादेः स्थयिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभाव अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तस्स तैर्विभावाद्यै स्स्थायीभावो रस स्मृतः ॥

—काव्यप्रकाश ४।२७।२

जिसका यह लक्ष्य है—"यद्यपि लोकजीवन ही काव्य-नाट्य में प्रतिबिम्बित हुआ करता है किन्तु 'बिम्ब' में जो विशेषता नहीं वह 'प्रतिबिम्ब' से लिपट जाती है। लोकजीवन में रत्यादि चित्तवृत्तियों के कारण भूत पदार्थ काव्य-नाट्य में प्रतिफलित होने पर सहृदय हृदय की रत्यादि वासनाओं को अभिव्यक्त करने लगते हैं।"

विभावन व्यापार या साधारणीकरण की शक्ति के द्वारा रामादि नायक कवि या नाट्यकार की कला से सामान्य रूप धारण करके सामाजिकों के हृदय में रत्यादि भावों को रस रूप में अंकुरित करने लगते हैं। लोक के रामादि का सीमित व्यक्तित्व काव्य नाट्य में असीम हो उठता है। इस प्रकार सहृदय हृदय में स्थायी भावों की अभिव्यक्ति अथवा उनके लिए चर्वणा का समर्पण ही काव्य-नाट्य में विभाव-अनुभाव और व्यभिचारिभाव की योजना का परम निष्कर्ष है और जो 'रस' है वह वस्तुतः काव्य-नाट्य की अभिव्यंजना अथवा चर्वणा की अलौकिक विशेषता से विशिष्ट सहृदयहृदय का रत्यादि रूप स्थायी-भाव ही है। चर्वणाविशिष्ट रत्यादि स्थायीभाव एक लोकोत्तर आनन्दात्मक अनुभव है।

विश्वनाथ कविराज ने मम्मट द्वारा प्रतिपादित रस प्रक्रिया का समर्थन किया है। 'विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त ही रत्यादि स्थायीभाव रस हुआ करता है, इस साहित्यदर्पणकार सम्मत रस-स्वरूप दर्शन से यह स्पष्ट है कि यह अनुभव लौकिक नहीं अपितु अलौकिक है।

विश्वनाथ के रस-स्वरूप-दर्शन में 'रसध्वनिवाद' स्पष्ट रूप से झलक रहा है। डा० सत्यव्रतसिंह के शब्दों में 'विश्वनाथ कविराज का यह 'रसमत' रस-ध्वनिवादी काव्याचार्यों की रसविषयक मान्यताओं का सारसंक्षेप और पुष्टीकरण है। यहाँ यह स्पष्ट है कि 'विभाव अनुभाव और व्यभिचारीभाव' तथा 'स्थायीभाव' में व्यङ्ग्य व्यंजक सम्बन्ध माना गया है। विभावादि वर्ग से स्थायीभाव की अभिव्यक्ति, दूध से दही की निष्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति सी मानी जा सकती है न कि दीप से घट की अभिव्यक्ति-सी। वैसे 'घटप्रदीपन्याय' भी व्यङ्ग्यव्ययंजकभाव में लागू है जैसा कि ध्वनिकार का कथन है कि 'वाच्य और व्यङ्ग्य रूप दार्ष्टान्तिक की सिद्धि के लिये 'पदार्थ-वाक्यार्थ-न्याय 'अथवा पदार्थ और वाक्यार्थ का दृष्टान्त' ठीक नहीं। वाच्य और व्यङ्ग्यरूप द्राष्टान्तिक के लिये तो 'घट-प्रदीपन्याय' अथवा 'प्रदीप और घट का ही दृष्टान्त

ठीक है। जैसे प्रदीप के द्वारा घट के साक्षात्कार होने पर प्रदीप का प्र विद्यमान रहा करता है, वैसे ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने पर वाच्यार्थ अवभास निवृत्त नहीं हुआ करता। किन्तु 'घटप्रदीप न्याय' से विभावादि और रसप्रतीति का विश्लेषण विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में एक वा वाली बात है। बात ठीक भी है क्योंकि जैसे 'घट' पूर्वसिद्ध वस्तु है वैसे को पूर्वसिद्ध मानना रसध्वनिवाद को तिलाञ्जलि दे देने के बराबर ही 'रस' तो एकमात्र 'आस्वाद्य' अथवा 'प्रतीतिसार' है, 'रस' कोई ऐसी वस्तु जो पहले से हो और जिसे हम न जानते हों तथा जो विभावादि द्वारा प्रक हो उठे। 'विभावादिवर्ग' और 'रस' में 'दधिन्याय' ही लागू हो सकत 'दधिन्याय' से 'रस' को समझाने का अर्थ यह है कि जैसे दूध का ही रूप परिणाम दही है, वैसे ही रत्यादिरूप स्थायीभाव का ही रूपान्तर-प शृङ्गारादि रस है। रत्यादि स्थायीभाव का यह 'रस' रूप रूपान्तर-प दधिन्याय से सरलता से समझाया तो जा सकता है किन्तु इस 'दधिन्या आस्वादमात्र 'रस' तक नहीं खींचा जा सकता। वस्तुतः विश्वनाथ कवि इसीलिए कहा है कि 'रस' एक अलौकिक और सहृदयमात्र—संवेद्य काव्या है। इसे एक 'अखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मय', 'वेद्यान्तर सस्पर्शशून्य' 'ब्रह्म सहोदर' 'लोकोत्तर चमत्कार प्राण' किंवा 'आत्मस्वरूप से अभिन्न' आनन्द ही माना जा सकता है। (साहित्यदर्पण ३।२३।)

सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्य ब्रह्मास्वाद सहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कार प्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ।।३।२

कविराज का कथन है कि रस की प्रतीति का हेतु सत्त्वोद्रेक है, रजस और तमस से अस्पृष्ट मन। ऐसा मन आत्मरत तथा बाह्य ज्ञेय से विमुख होता है। अलौकिक काव्यार्थ का परिशीलन करने वाले सामाजिक के हृदय में यह 'अनन्योन्मुखता' यह 'सत्त्वोद्रिक्तता' स्वभावत होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज ने यहाँ जिस भवप्रक्रिया का विश्लेषण किया है उसमें काश्मीर के शैवदर्शन की विच की कोई झलक नहीं अपितु सांख्य और अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों का झलकता है। कविवर्णित विभावादि के 'व्यङ्ग्यव्यंजकभाव रूप' स

रत्यादिभावों का यह रूपान्तर परिणाम चिदानन्द-चमत्कार स्वरूप होता है। और इसीलिए इसे रस कहते हैं। यह रत्यादिभाव जो कि 'चिदानन्द चमत्कार' रूप से परिणत होता है, काव्य-पुरुष अथवा नाटक-पुरुष का इत्यादिभाव नहीं अपितु 'साधारणीकृत' रत्यादिभाव है।

व्यापारोऽस्ति विभावदेनाम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः ॥३।९

विश्वनाथ का कथन है कि 'रस' अनुकार्यगत नहीं है, जैसा भट्टलोल्लट ने माना है। रस अनुकर्तृ (नट आदि) गत भी नहीं है, जैसा कि शंकुक मानते हैं। डा० सत्यव्रतसिंह के शब्दों में, 'इस रस की निष्पत्ति सिद्धि के लिए भट्टनायक की सी कल्पना भी अनावश्यक है। काव्य में भावकत्व व्यापार और भोगीकरण व्यापार रहा करते हैं—इसके बदले यही मानना युक्तियुक्त है कि काव्य में व्यंजना शक्ति स्फुटित हुआ करती है।' वस्तुरूप और अलंकार रूप व्यंग्यार्थ की अपेक्षा रसरूप काव्य-परमार्थ में आनन्दातिरेक के देखते इस व्यंजना शक्ति को 'रसना' कहिये, कोई आपत्ति नहीं।

रस अखण्डस्वरूप है। इसमें विभावादि पृथक्-पृथक् प्रतिभासित नहीं होते जैसे प्रपाणक-रस में शर्करा, मिर्च और कपूर आदि का पृथक् स्वाद नहीं मिलता। इनके पृथक्-पृथक् स्वाद से सर्वथा विलक्षण अस्वाद रस का होता है। रस का भी आस्वाद चमत्काररूप रहा करता है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य विश्वनाथ ने अपना 'रसमत' रसध्वनिवादी काव्याचार्यों की रसविषयक मान्यताओं का सारसंक्षेप एवं पुष्टीकरण है। उन्होंने रस के स्वरूप निरूपण तथा उसकी निष्पत्ति में रसध्वनिवाद के सिद्धान्तों को ही आधार बनाया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपना कोई मौलिक मत प्रस्तुत नहीं किया, वरन् रसध्वनिवाद की परम्परा को ही अपनाया है।

रस की स्थिति सहृदय सामाजिकगत

प्रश्न ११—"रस अनुकार्य या अनुकर्तृगत न होकर सहृदय सामाजिक गत है।" इस कथन की विवेचना साहित्यदर्पणकार के मतानुसार कीजिए।

उत्तर—विश्वनाथ कविराज ने रस की स्थिति का अवबोध कराते हुए सर्वप्रथम भट्ट लोल्लट के इस मत का खण्डन किया है कि रस अनुकार्यगत है। कविराज का कथन है कि कुछ लोग इस विचार के हैं कि रस अनुकार्य अथवा

रामादि नायक-निष्ठ आनन्दात्मक अनुभव है, न कि सहृदय सामाजिकगता किन्तु यह विचार निम्नांकित तीन आधारों पर परीक्षा करने पर युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता—

पारिमित्याल्लौकिकत्वात्सान्तरायतया तथा ।३।१७
अनुकार्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत् ।।

अर्थात् काव्य-नाट्य में वर्णित रामादिनायकों के सहृदय में जो रत्यादि भावों का उद्बोध है, वह 'रस' नहीं हुआ करता। नायकादिगत रत्यादि भावोद्बोध इसलिए रस नहीं हुआ करता क्योंकि—

(१) अनुकार्यगत रत्यादि भावोद्बोध लौकिक है, जबकि काव्य-नाट्य द्वारा उद्भावित रत्यादिभाव अलौकिक हुआ करता है।

(२) अनुकार्यगत रत्यादि भावोद्बोध वैयक्तिक (परिमित) हुआ करता है, जबकि काव्य-नाट्य द्वारा अभिव्यक्त रत्यादिभाव 'स्वगतता-परगतता' की समस्त सीमाओं से अतिक्रान्त निर्भरानन्दात्मक संवेदन रूप है।

(३) अनुकार्यगत रत्यादिभावोद्बोध काव्य-नाट्य के श्रवणदर्शन के प्रतिकूल है, क्योंकि उसके लिए लोकजीवन की भोग-सामग्री अपेक्षित है, न कि काव्य-नाट्य की वर्णना।

साहित्यदर्पणकार की उपर्युक्त तीनों युक्तियाँ सर्वथा मान्य किंवा प्राचीन रसवेदी आचार्यों के रसचिन्तन द्वारा अनुप्राणित हैं। आचार्य धनिक इस सम्बन्ध में दशरूपक चतुर्थप्रकाश में स्पष्ट रूप से लिख चुके हैं कि 'लोकजीवन के राम का सीता के प्रति लौकिक प्रेमोद्रेक 'श्रृंगार रस' नहीं हो सकता। श्रृंगार रस तो रसिक हृदयवर्ती रतिभावोद्बोध को कहा करते हैं, जोकि एक निर्भरानन्द-संवेदन है। लोकजीवन के राम के हृदय का रतिभावोद्बोध 'रस' क्योंकर हो जबकि इसके दर्शकों के लिए, इस की प्रतीति एक लौकिक प्रतीति मात्र है और जबकि इससे भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले लोगों को भिन्न-भिन्न प्रकार का राग-द्वेष-मोहात्मक लौकिक अनुभव हुआ करता है।'

आचार्य धनिक का मत है कि—

किंच न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः
प्रवर्त्यते ते, अपि तु सहृदयांनन्दयितुम् ।

—दशरूपक चतुर्थप्रकाश

इस को अनुकार्यगत मानना वस्तुतः काव्य-नाट्य को निरर्थक बना देना है

है। 'काव्य-नाट्य की रचना सहृदय सामाजिकों के रसास्वाद के लिये की जाया करती है, न कि रामादि नायकों के रसास्वाद के लिए। रामादि नायकों को तो लोक-जीवन का सुख-दुख मिला करता है और जिसे 'रस' कहते हैं वह लोक-जीवन का सुख-दुख नहीं, अपितु एक अलौकिक आनन्दानुभव हुआ करता है।

विश्वनाथ ने इस बात का भी खण्डन किया है कि 'रस नटादि गत' है। उनका कथन है कि कुछ लोगों का यह कथन कि रस अनुकर्ता (अभिनयकर्ता) नटादि का ही अनुभव है, न कि सामाजिक का। रस सिद्धान्त का निराकरण करते हुए लिखा जाता है कि—

शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः स्वरूपताम्।
दर्शयन्नर्त्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत्॥३।१८
किञ्च-काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम्॥३।१९

अर्थात् भला उस नट को रसास्वाद क्योंकर मिले जो रंग-मंच पर केवल अभिनय की शिक्षा, उसके अभ्यास और उसमें कौशल-प्रदर्शन से ही अपने आपको रामादि के रूप में दिखाया करता है? किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि अभिनेता नट के हृदय में भी काव्यार्थ भावना अथवा रसना उत्पन्न हो गयी तब उसे, उस अवस्था में नट नहीं अपितु एक सहृदय सामाजिक कहा जाया करता है।

तात्पर्य यह है कि रस के अभिनय के कारण नट को रसास्वाद नहीं हुआ करता। नट को यदि रसास्वाद होता है तो काव्यार्थ-भावना अथवा रसना की उत्पत्ति और उसकी प्रक्रिया द्वारा ही होता है, जबकि रामादिनायकों के साथ नट का हृदयसंवाद सम्पन्न हो जाय, तब नट, नट नहीं अपितु रंगमंच का एक सहृदय सामाजिक बन जाया करता है।

रस अनुकर्ता (नटादि) गत नहीं हो सकता। यह बात तो इसी से सिद्ध है कि सहृदय सामाजिकों को, रसानुभव में 'अनुकार्यानुकर्तृ विभाग' की कोई प्रतीति ही नहीं हुआ करती। इसके अतिरिक्त 'रस' को अनुकर्तृ गत मानना इसलिए भी अनुपपन्न है, क्योंकि रामादिगत रत्यादिभाव का अनुकरण असम्भव है, जैसा कि अभिनवभारतीकार का कथन है, शोकक्रोधदिरूप चित्तवृत्तियों का क्या अनुकरण? भला नट को वह शोक कहाँ जो राम के शोक के समान

हो ? यदि राम के हृदय का शोक नट के हृदय को शोक हो जाय तब इस
अनुकरण कहाँ ?

तात्पर्य यह कि अभिनेता की अवस्था में नट को रसास्वाद नहीं मि करता, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि नट सर्व रसास्वाद से वंचित रहा करता है। नट को भी 'रस' मिलता है, किन्तु उस भी रसास्वाद-प्रक्रिया वही है जो सामाजिक की होती है। यदि उसमें काव्या भावना है तो उसे भी रसास्वाद मिला करता है। आचार्य धनञ्जय धनिक का कथन है कि 'नट की अभिनय कला तो सहृदय सामाजिकों सहृदयानुरञ्जन के लिये है, किन्तु यदि नट में रसिकता का समावेश हो ज तो सहृदय सामाजिकों की भाँति उसे भी रस मिल जाय।

विश्वनाथ का स्पष्ट कथन है कि रस कोई ज्ञाप्य वस्तु नहीं है—

नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः।

रस को ज्ञात कहना असम्भव है, क्योंकि ज्ञाप्य वस्तु का यह स्वभाव है स्वसत्ता में रहते हुए कभी अज्ञात रह सकती है। रस भला ज्ञाप्य कैसे जब उसके सम्बन्ध में यह सम्भव नहीं कि उसका अस्तित्व तो हो किन्तु उस अनुभव न हुआ करे। अनुभूति के अतिरिक्त रस की सत्ता नहीं, अतः घट-पटादि की भाँति ज्ञान द्वारा ग्राह्य या ज्ञाप्य नहीं कहा जा सकता। एक 'रस्यमानतैकप्राण' अनुभव है। रस कोई प्रमेय रूप पदार्थ नहीं जिस अपेक्षा विभावादि को प्रमाण अथवा ज्ञापक माना जाय। 'रस' तो रसना प्रतीति का विषय हो सकता है और यह प्रतीति ऐसी है जिसे प्रमाणव्या कहना रसानुभव के विश्लेषण का असामर्थ्य-प्रदर्शन ही है। रस को ज्ञा मान लेने पर तो काव्य-नाट्य की लोक-विलक्षणता ही समाप्त हो जा और 'रस' के अधिकारियों में 'सहृदय' की विशेषता का कोई भी अ निकलेगा।

विश्वनाथ का मत है कि रस कार्य कारणजन्य रूप नहीं है—

यस्मादेष विभावादि समूहालम्बनात्मकः ।।३।३०

तस्मान्न कार्यः।

अर्थात् रस को कार्य अथवा कारण व्यापारजन्य वस्तु भी नहीं कहा सकता, क्योंकि यह तो विभावादिसमूहालम्बनात्मक अनुभव है न कि ऐसा कि विभावादि ज्ञान द्वारा उत्पन्न किया जाय।

यदि 'रस' कार्य है तो विभावादि को कारण मानना होगा। यदि विभावादि ज्ञान रस का कारण हुआ तब तो यही मानना पड़ेगा कि जब रसानुभव हो रहा हो तब विभावादि का अनुभव नहीं हो सकता क्योंकि कारण-ज्ञान और कार्य-ज्ञान का एक समय में होना कदापि सम्भव नहीं ऐसा भला कहाँ कि एक ही समय में चन्दन के स्पर्श का ज्ञान होता रहे और उससे उत्पन्न सुख का भी अनुभव हो जाय। 'रस' तो एकमात्र विभावादिसमूहालम्बनात्मक संवेदनरूप है। इसलिये विभावादि ज्ञान भला रस का कारण कैसे?

रस विभावादिरूप कारण सामग्री से उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने यह युक्ति दी है कि रस न तो कार्य है और न विभावादि बोध रस का कारण। यदि विभावादिबोध रस का कारण हो सकता तब विभावादिबोध के नष्ट हो जाने पर भी रस का अनुभव हुआ करता?

विश्वनाथ की युक्ति यह है कि चन्दनादि और चन्दनादि-जन्य सुख एक संवेदन के विषय नहीं। रस रूप सुख ऐसा है जिसे विभावादिबोध का कार्य इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि, यह विभावादिबोध संवलित एकघन सुखसंवेदन हुआ करता है।

विश्वनाथ का कथन में कि रस नित्य वस्तु भी नहीं है—

नो नित्यः पूर्वसंवेदनोज्झितः।
असंवेदनकालो हि न भावोऽप्यस्य विद्यते ॥३।२१

अर्थात् रस को नित्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विभावादि-परामर्श के पहले उसकी प्रतीति ही असम्भव है और जब कि प्रतीति के पहले रस का अस्तित्व ही नहीं, तब उसे 'नित्य' मानना भी निरर्थक ही है। क्योंकि नित्य वस्तु ऐसी नहीं होती कि उस समय तो रहे जबकि उसका अनुभव हो रहा हो और उस समय न रहे जबकि उसका अनुभव न हो रहा हो।

विश्वनाथ ने यहाँ रस के 'ब्रह्मास्वादसविध' होने के रहस्य का उद्‌घाटन किया है। काव्य-नाट्य-भावना अथवा रसना का विषय 'रस' 'रसो वै सः' का एकरूप, एकरस नहीं अपितु उससे भी विलक्षण हुआ करता है। रस नित्य नहीं, इसलिये ब्रह्मास्वादरूप नहीं अपितु ब्रह्मास्वादसहोदर है। यदि रस को नित्य माना जाय तो काव्य-नाट्य अथवा कला की क्या आवश्यकता? नित्य होने से रस की सत्ता काल-परिच्छेद से अतीत हो जायगी और विभावादि-भावना और रस का सम्बन्ध सदैव के लिए नष्ट हो जायगा।

रस को विश्वनाथ एक अनिर्वचनीय तत्त्व मानते हैं—

नापि भविष्यन् साक्षादानन्दमयस्वप्रकाशरूपत्वात् ।
कार्यं ज्ञाप्यविल क्षणभावान्नो वर्त्तमानोऽपि ॥३।२२
विभावादिपरामर्श विषयत्वात् सचेतसाम् ।
परानन्दमयत्वेन संवेद्यत्वादपि स्फुटम् ॥३।३२
न निर्विकल्पकं ज्ञान तस्य ग्राहकमिष्यते ।
तथाऽभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च ॥३।२४
सविकल्प संवेद्यः ।

अर्थात् 'काव्यात्मभूत रस एक अनिर्वचनीय वस्तु है, क्योंकि इसके में अन्य वस्तुओं की-सी कोई भी संभावना नहीं हो सकती । जैसे इ कोई भावी वस्तु कहना चाहे तो नहीं कह सकता, क्योंकि यह तो काव्य- भावना का ही समकालीन एक साक्षात् स्वप्रकाशानन्दमय अनुभव है 'वर्तमान' वस्तु कहना भी अनुप्पन्न ही है, क्योंकि न तो यह कोई कार्य वस्तु है और न ज्ञाप्य वस्तु । रस का स्वभाव तो कार्य और ज्ञा वस्तुस्वभाव से सर्वथा विलक्षण ही रहा करता है । इसे 'निर्विकल्पक का विषय भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सहृदयों का अनुभव य करता है कि यह विभावादि परामर्श का विषय बना करता है औ आत्यन्तिक सुख चमत्कार के रूप में संवेद्य देखा जाया करता है । किन्तु यह अभिप्राय नहीं कि इसे सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं मान क्योंकि इसके लिए कोई भी वाचक पद ढूंढे नहीं मिलता ।

रस न नो नित्य वस्तु है और न भावी और वर्तमान । अर्था शब्द-वाच्य नहीं । शब्द की वाचकता उन सभी वस्तुओं से जुड़ी रह है, जिन्हें हम अपने बौद्धिक विश्लेषण में परख लेते हैं । रस का विश्लेषण उसके उद्भावक तत्त्वों का ही हो सकता है, उसके वास्तविक नहीं । रस एक अलौकिकस्वसंवेदन संवेद्य तत्व है । रस की लोकोत्तरत यह सिद्ध है वह निर्विकल्पक किंवा सविकल्पक संवेदन का विषय सकता ।

विश्वनाथ का कथन है कि रस न तो परोक्ष है और न प्र साक्षात्कारतया न च ।

परोक्षस्तत्प्रकाशो नापरोक्षः शब्दसंभवात् ॥३।२५

अर्थात् रस को परोक्ष अथवा अतीन्द्रिय कहना भी असम्भव है, क्योंकि यह साक्षात् अनुभवस्वरूप प्रतीत हुआ करता है। इसका यह भी अभिप्राय नहीं कि यह प्रत्यक्ष रूप है। रस को प्रत्यक्ष भी नहीं कह सकते क्योंकि, यह एक अलौकिक शाब्द-ज्ञान है, काव्य-नाट्योत्थापित विभावादिज्ञान द्वारा निष्पन्न अनुभव है। इसलिए रस वस्तुतः एक अलौकिक तत्त्व है और एकमात्र सहृदय सामाजिकों द्वारा अपने तात्त्विक स्वरूप में पहचाना जाया करता है—

तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम् ।

रस के सद्भाव एवं अनिर्वचनीयत्व में एक ही प्रमाण है और वह प्रमाण सहृदय सामाजिक की चर्वणा अथवा 'रसना' है। रस के 'रस्यमानतामात्रसार' होने से, 'चर्वणास्वरूप' होने से सहृदयों के आस्वादानुभव के अतिरिक्त और इसमें क्या प्रमाण? चर्वणा का अभिप्राय है आस्वादन अर्थात् विभावादि संवलित रत्यादि भावों से भावित सहृदय हृदय का आनन्द चमत्कार। इस प्रकार स्वप्रकाशानन्दमय रस के अस्तित्व में रसनारूप प्रतीति ही प्रमाण है।

विश्वनाथ का कथन है कि वस्तुतः तो रस निष्पन्न (उत्पन्न) नहीं हुआ करता। विभावादि के संयोग से जिसकी निष्पत्ति हुआ करती है वह 'रस' नहीं अपितु 'रसना' अथवा चर्वणा' है। रस को निष्पन्न कहना उपचारतः ही सम्भव है, क्योंकि रस और रसना (चर्वणा) में जब अभेदारोप कर दिया गया, तब चर्वणा की निष्पत्ति का 'रस' पर आरोप स्वयं सिद्ध हो गया और रस की औपचारिक निष्पत्ति में कोई आपत्ति न रही—

निष्पत्त्या चर्वणास्यास्य निष्पत्तिरूपचारतः ।

रस एकमात्र व्यङ्ग्य तत्त्व है। यह—

अवाच्यत्वादिकं तस्य वक्ष्ये व्यञ्जरूपेण ।।३।२७

रस के अवाच्यत्व आदि का निरूपण करते हुए विश्वनाथ उसे एकमात्र व्यंग्य तत्त्व मानते हैं। इस सिद्धान्त के स्थापन में अभिनवगुप्त की यह युक्ति है—'रस एकमात्र आस्वादसार काव्य-तत्त्व है। इसका शब्दतः प्रतिपादन असम्भव है। काव्य का व्यंजना व्यापार ही रसबोध में एकमात्र समर्थ है। लक्षणा की इसमें सम्भावना नहीं है। तात्पर्यवृत्ति का भी यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो सहृदय सामाजिक से सम्बद्ध हृदय संवाद, विभावादि-परामर्श, तन्मयीभवन और रसानात्मक बोध ही उपायरूप से पड़े प्रतीत होते हैं और ये सब व्यंजना (रसना) के ही प्रक्रियाबन्ध हैं।

विभाव का निरूपण करते हुए दशरूपककार ने लिखा है 'काव्य-नाट्य क्षेत्र में जनकतनयादि विशेषताओं से शून्य, वस्तुतः साधारणीकृत सीतादि 'विभाव' कहते हैं। ऐसा इसलिये क्योंकि इसीसे सामाजिक हृदय में रत्या वासनायें स्फुरित हुआ करती हैं। विश्वनाथ ने भी लिखा है कि—

"विभावयन्ते आस्वादाङ्कुऽप्रादुर्भाव योग्याः क्रियन्ते सामाजिक रत्यादि भा एभिः' इति विभावा उच्यन्ते।"

रस सहृदय सामाजिक गत है। प्रतिदिन के व्यावहारिक जगत् की वस्तु अपने-अपने प्रतिनियत स्वभाव में नियन्त्रित रहा करती हैं। काव्य-नाट्य के में इन्हीं वस्तुओं का ऐसा रूपान्तर हो जाया करता है जिससे इनकी व्यक्ति विशेषतायें लुप्त हो जाया करती हैं और इनका सामान्य स्वभाव स्फूर्तिमान उठता है और सामाजिक मात्र की भावना इन्हें वास्तविक बना दिया करती है भावकचित्त की भूमि में विचरणशील इन वस्तुओं से ही रस की निष्पत्ति सम है न कि इनके लोकगत स्वरूप से। नायकादि के आलम्बन से, साधारणीक होने पर विभावों से सामाजिकों को रसास्वाद मिला करता है।

करुणरस का आस्वाद

प्रश्न १२—करुणरस के आस्वाद के सम्बन्ध में साहित्यदर्पणकार विचारों की स्पष्ट मीमांसा कीजिए।

उत्तर—रस आनन्दस्वरूप है तथा आह्लाद प्रदान करता है। आदिक रामायण की मूलप्रेरणा 'करुण रस' है। कालिदास ने रघुवंश में इस तथ्य अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है—

निषाद विद्धाण्डजदर्शनोत्थश्लोकत्वमापद्यत यस्यशोक।१४।७०

अर्थात् 'क्रौंच मिथुन के वियोग के दुःखद दृश्य से उत्पन्न महर्षि वाल्मी का शोक ही रामायण की कविता बन गया।'

ध्वनिकार आनन्दवर्धन का कथन है कि रस ही सहृदय हृदय-संवेद्य का का सारतत्त्व है। महाकवि वाल्मीकि के रामायण-काव्य का जो 'करुण' परमार्थ है, वही उसका 'रस' अथवा आह्लाद अथवा आनन्द है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्वबियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।

—ध्वन्यालोक

करुणरस के आस्वाद के सम्बन्ध में दो विचारधारा

संस्कृत के आचार्यों ने करुणरस के आस्वाद के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत प्रस्तुत किये हैं—

(१) करुणरस एक रस है और रस आह्लाद अथवा आनन्दरूप होता है। कालिदास और आनन्दवर्धनाचार्य इस विचारधारा के समर्थक हैं। साहित्य-दर्पणकार की भी यही मान्यता है।

(२) करुणरस दुःखात्मक है—**सुखदुःखात्मको रसः।** नाट्यदर्पणकार की मान्यता है कि रस सुख और दुःख दोनों रूप वाले होते हैं। करुण रस दुःखात्मक रूप वाला है। भक्तिरसायन में मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है कि 'वैसे समस्त रत्यादि स्थायीभावों का आस्वाद सुखास्वाद है किन्तु शोक आदि कतिपय स्थायीभावों के आस्वाद में सुख का किञ्चिन्मात्र न्यूनत्व अवश्य मानना चाहिए।

आचार्य विश्वनाथ ने रस का स्वरूप विवेचन करते हुए उसके आस्वाद को आत्मानन्द का विलास माना है। यह आस्वाद तभी सम्भव है, जबकि काव्य-नाट्य के सामाजिक के हृदय में विभावादि संवलित रत्यादिरूप काव्यार्थ की महिमा से सहृदयता का स्रोत उमड़ पड़े और स्वगत-परगत का भेद-भाव मिट जाय। काव्य-नाट्य रस भावक हुआ करता है, उसमें एक विचित्र शक्ति रहती है जो उसकी भावना अथवा भावकता शक्ति है। काव्य-नाट्य की यह भावना वस्तुतः उसकी व्यंजना है। इस प्रकार रस को आनन्दरूप सिद्ध करने के बाद विश्वनाथ ने प्रश्न उठाया है, कि 'करुण रस' रस है या नहीं। 'रस' और 'रसना' रूप प्रतीति में औपचारिक अभेद मानने से रस को व्यंजनाजन्य कहा जा सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि करुण, जिसमें शोकरूप स्थायीभाव की भावना अथवा रसना हुआ करती है, रस है या नहीं। इसका समाधान साहित्यदर्पणकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेत सामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥३।४

अर्थात् 'जबकि सहृदय सामाजिकों को करुण आदिरसों में भी अनिर्वचनीय आनन्द ही मिला करता है, तब तो यही सिद्ध है कि करुण आदि भी रस ही हैं, आनन्दरूप आस्वाद ही हैं।'

करुण आदि से विश्वनाथ का तात्पर्य करुण, बीभत्स और भयानक आदि

रसों से है। इन तीनों को ही वे काव्य-नाट्य के आनन्दात्मक चम
मानते हैं।

रसमर्मज्ञों की परम्परा में श्रृंगार की भाँति ही करुण का आनन्द
आस्वाद मानने की परम्परा चली आयी है। वाल्मीकि की काव्यस्फुरण
लिए 'शोकः श्लोकत्वमागतः' की चिरप्रसिद्ध सूक्ति भी यही सिद्ध करती
करुण रस दुःखात्मक नहीं, अपितु सुखात्मक अनुभव वाला है। महाकवि
भूति ने उत्तरारामचरित में लिखा है—

एको रसः करुण एव निमित्त भेदात्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्तबुदबुद तरङ्गमयान् विकारा—
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥

अर्थात् 'करुणरस ही एकमात्र प्रधान रस है। जिस प्रकार एक ही
का जल कभी भँवर के रूप को कभी बुद्बुद् के रूप को और कभी तरं
रूप को धारण कर लेता है, किन्तु वास्तव में है सब जल ही, उसी
निमित्त भेद से (रस सामग्री विभाव, अनुभाव आदि), उसके वैलक्षण्य
एक ही करुणरस और रसों के रूप को धारण कर लेता है।' इस प्रकार
भूति ने समस्त रसों में करुणरस को ही विशेष महत्त्व प्रदान किया है।
रामचरित करुणरस प्रधान नाटक है। इस प्रकार महाकवि भवभूति ने
रस के आनन्द को ही एकमात्र काव्य-नाट्य का अनिर्वचनीय आनन्द मान

आचार्य विश्वनाथ ने करुणादिरसों के आनन्दात्मक होने में सहृद
स्वानुभाव को प्रमाण मानना सर्वथा युक्तियुक्त माना है, किन्तु जो लोग
नहीं हैं, उनके लिए उन्होंने करुणादि की रसरूपता की सिद्धि में एक
प्रमाण दिया है, वह इस प्रकार है—

किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यातदुन्मुखः।

अर्थात् करुणादि रस का अनुभव तो सभी के लिए आनन्दात्मक हो
यदि ऐसा न होता तो असहृदय ही क्या, सहृदय भी करुणादि रस के
लालायित ही क्यों हुआ करता, जैसाकि वस्तुतः हुआ करता है।

कोई भी समझदार व्यक्ति क्यों शोक सन्ताप को अपने पास बुला
जब करुणादि रस के प्रति सामाजिक मात्र का आग्रह दिखाई पड़ता
यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये रस आनन्दमय और सुखात्म

ही होते हैं । लौकिक करुण में हृदयोद्वेग होने से कोई भी व्यक्ति उसमें तन्मय नहीं होना चाहता, किन्तु काव्य-करुण में हृदय-सम्वाद रहता है, अतः अलौकिक काव्य-नाट्य की शोक वासना में सभी तन्मय हुआ करते हैं और उसमें आस्वादसार होता है, जबकि लौकिक-करुण में आस्वाद्यमानता नहीं होती। साहित्यदर्पणकार ने ध्वन्यालोक और ध्वन्यालोक लोचनकार की विचारधारा का प्रतिपादन करते हुए 'रस' अथवा काव्यात्मक अथवा कलात्मक अनुभूति की बड़ी सुन्दर विचारधारा प्रस्तुत की है ।

आचार्य विश्वनाथ ने करुणादि रसों के दुःखात्मक मानने में जो सबसे बड़ी अनुपपत्ति है, उसका इस प्रकार निर्देश किया है—

तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ।

अर्थात् करुणादि रसों को यदि दुःखात्मक मान लें, तब रामायणादि महान् काव्य अथवा नाट्य ग्रन्थों को भी दुःखदायी मानना पड़ जावेगा । किन्तु रामायणादि काव्य प्रबन्ध तथा नाट्य प्रबन्ध तो सबके लिए रसात्मक आनन्द देने वाले प्रबन्ध हैं और इनमें करुणरस की प्रधानता है, तो करुणरस को दुःखात्मक कैसे माना जा सकता है ।

दशरूपककार ने करुण के आनन्दात्मक अनुभव होने में जो युक्ति दी है, उसका स्पष्ट प्रभाव विश्वनाथ कविराज पर दिखाई पड़ता है । दशरूपककार ने चतुर्थप्रकाश में यह तर्क प्रस्तुत किया है कि शृङ्गारादि रसों की आनन्दात्मकता तो निःसन्दिग्ध है ही, साथ ही करुण रस का आनन्दात्मक होना भी स्वयंसिद्ध है । काव्य का करुण 'रस' है, किन्तु लोक का 'करुण' रस नहीं है । यही करण है कि रामायणादि करुणरस प्रधान महाकाव्यों के प्रति लोगों की अभिरुचि दिखलाई पड़ती है । काव्य-करुण के आँसू आनन्द के आँसू हुआ करते हैं । सहृदय सामाजिकों का संवेदन ही करुण रस के आनन्दात्मक होने का प्रमाण है ।

स्थायीभाव शोक दुःख का जनक

विश्वनाथ कविराज ने माना है कि करुण का स्थायीभाव शोक है और वह केवल दुःख का ही जनक हो सकता है, सुख का नहीं । किन्तु काव्य-नाट्य में शोक से सुख मिलता है, करुण आनन्द चमत्कार है, यह भी एक परमतथ्य है और इसका विचार इस प्रकार है—

हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात् ।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः ।।३।६
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ।
सुखं सञ्जायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः ।।३।७

अर्थात् 'भले ही शोक-विषाद और हर्ष-प्रहर्ष के उन-उन लौकिक का
से प्रतिदिन के जीवन में लोगों को दुःख और सुख मिला करें, किन्तु लौ
जीवन के वे ही हर्ष-विषाद और उनके वे ही कारण जब काव्य-नाट्
वर्णना के विषय बन जाया करते हैं और सहृदय सामाजिक के हृद
शोकादि वासनाओं को उद्बुद्ध करने लगते हैं तब उनसे सुख अथवा अ
की सृष्टि हुआ करती है और यह बात ऐसी है जिसमें किसी प्रका
अनुपपत्ति नहीं, क्योंकि जैसे लोक और काव्य-नाट्य परस्पर विलक्षण हैं,
ही लोक के शोक-हर्ष और काव्य-नाट्य के शोक-हर्ष भी तो एक नहीं ।

साहित्यदर्पणकार ने इस मत की विशद व्याख्या करते हुए लिखा
लोक-जीवन की दृष्टि से तो राम वनवास आदि की घटनाएँ दुःखद हैं,
काव्य नाट्य में अवतरित होकर ये सुखप्रद हो जाती हैं । काव्य में लो
यह आमूलचूल परिवर्तन इसलिए हुआ करता है क्योंकि लोक में तो वनवा
की घटनायें दुःख का 'कारण' हुआ करती हैं और ऐसी कही भी जाया
हैं, किन्तु काव्य-नाट्य में आते ही इनमें विभावन की शक्ति का संचा
उठता है । जिससे सहृदय सामाजिक अपने शोकवासना का एक अलौ
आस्वाद लेने लग जाता है और इसीलिए इन्हें एक अलौकिक शब्द जै
'विभाव' शब्द से संकेतित किया जाया करता है । काव्य-नाट्य की ये वि
रूप दुःखद घटनायें एकमात्र आनन्द की ही सृष्टि किया करती हैं । दुःख
से सुख की सृष्टि कदाचित लोक में भी दिखायी पड़ती है, जैसे रतिप्र
दन्तक्षत और नखक्षत दु.खप्रद न होकर सुखप्रद होते हैं । निष्कर्ष यह
लोक का नियम कुछ और है और काव्य-नाट्य का कुछ और । लोक का नि
है—लौकिक दुःख अथवा सुख के जनक तत्त्व लोक जीवन में दुःख अ
सुख दिया करते हैं । इसके विपरीत काव्य-नाट्य कला का नियम है कि
जीवन की समस्त दुखद किंवा सुखद वस्तुएँ काव्य-नाट्य में आते ही विभा
रूप में बदल जाया करती हैं और एकमात्र परमानन्दसन्दोहरूप रस की

किया करती हैं। इस प्रकार जबकि काव्य लोक से विलक्षण तत्त्व है तब इसमें क्या आपत्ति कि काव्य की शोक वर्णना से आनन्द भावना हुआ करती है।

डा० सत्यव्रतसिंह ने विश्वनाथ के उपर्युक्त मत का विमर्श प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि 'साहित्यदर्पणकार ने लोक और काव्य के वैलक्षण्य के आधार पर लौकिक शोक और अलौकिक शोक, लोक-करुण और काव्यकरुण का परस्पर वैलक्षण्य सिद्ध किया है, जोकि सर्वथा युक्तियुक्त किंवा प्राचीन आचार्यों की विचारधारा द्वारा प्रमाणित है। यहाँ करुण की रसरूपता की सिद्धि का एकमात्र अभिप्राय रस के स्वरूप का सर्वतोभद्र उन्मीलन है। रस की अनिर्वचनीयता जितनी करुण की रसरूपता की सिद्धि में सिद्ध होती है, उतनी शृंगार की रसरूपता की सिद्धि में नहीं होती।'

अब प्रश्न उठता है अनुभावों का। यदि करुण आनन्दस्वरूप है तो महाराज हरिश्चन्द्र आदि के ही चरित्र के देखने अथवा सुनने से सामाजिकों की आँखों से आँसू क्यों गिरने लगते हैं? इस समस्या का समाधान विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है—

अश्रुपातादयस्तद्वद्द्रुतत्वाच्चेतसो मताः।

अर्थात् जैसे लोकगत हृदय विदारक दृश्य के देखने अथवा सुनने से लोगों का हृदय पिघल जाता है और उनके नेत्रों से दुःखाश्रु प्रवाहित होने लगते हैं, वैसे ही काव्य-नाट्यगत करुण दृश्य के देखने अथवा सुनने से भी सहृदय सामाजिकों का हृदय पिघल पड़ता है और उनकी आंखों से आनन्द के स्रोत बने आँसू बह चलते हैं।

एक शंका और भी है कि जब रस आनन्दरूप या आह्लादमय हुआ करता है तो उसके समस्त पाठक अथवा दर्शकों के लिए वह आह्लादानुभव या आनन्दास्वाद मिलना चाहिए, किन्तु बहुतों को यह नहीं मिलता। इस समस्या का समाधान विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है—

न जायते तदस्वादो विना रत्यादिवासनाम्॥

अर्थात् जब तक काव्य-नाट्य के सामाजिकों में रत्यादि रूपवासना-जन्म-जन्मान्तर से संचित सूक्ष्म रत्यादि संस्कार न हों, तब तक उन्हें रत्यादि का आस्वाद रस भी नहीं मिलता। रसास्वाद के लिए वासना का होना नितान्त आवश्यक है। वासना दो प्रकार की होती है, आधुनिक और प्राचीन।

रसास्वाद में दोनों प्रकार की वासना आवश्यक हैं। इसीलिए धर्मदत्त कहा है—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसंन्निभाः॥

अर्थात् रस का आस्वाद तो उन्हीं सामाजिकों को हुआ करता है, जिन हृदय में रत्यादि वासनाओं का भंडार भरा है। उन्हें भला रस का आस्व कैसे मिल सकता है, जिनमें वासना ही नहीं है। ऐसे लोग सामाजिक न अपितु रगंशाला के खम्भे, दीवार और पत्थर के समान सर्वथा काव्यार्थानु से वंचित ही रहने योग्य हैं, जिनमें पूर्वजन्म की रत्यादि वासना रहा कर है, वे रसास्वाद के भोक्ता होते हैं।

निष्कर्ष—निष्कर्ष यह कि करुण रस है और आनन्दानुभवरूप काव्य है। काव्य-नाट्य की लोकोत्तर शक्ति की ही यह महिमा है कि लोक दुःखात्मक शोकादिरूप पदार्थ भी काव्य-नाट्य में अवतीर्ण होकर आह्लादात ही प्रतीत होने लगते हैं। करुण काव्य के श्रवण अथवा करुण नाट्य दर्शन से सहृदय सामाजिकों के हृदय और नेत्र आर्द्र हो जाते हैं, किन्तु उन यह आर्द्रता दुःख के कारण नहीं, अपितु सुख के ही कारण हुआ करती है।

विश्वनाथ कविराज द्वारा निरूपित साधारणीकरण

प्रश्न १३—साधारणीकरण के सम्बन्ध में विश्वनाथ कविराज के विचा की मीमांसा कीजिए।

उत्तर—साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में रसास्वाद की भूमिका प्रस् करते हुए विश्वनाथ कविराज ने साधारणीकरण या तन्मयीभवन का विवे किया है। प्रश्न यह है कि 'काव्य-नाट्य में उपस्थापित रामादि नायकों रत्यादि भावों के उद्बोधन-कारण सीतादि नायिकाओं के दर्शन अथवा श्रवण सामाजिक जन के हृदय की रत्यादि वासनायें क्योंकर उद्बुद्ध हो सकती हैं इस समस्या का समाधान साधारणीकरण व्यापार है। आचार्य विश्वनाथ लिखा है कि—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः॥३।९
प्रमाता, तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।

अर्थात् 'काव्य-नाट्य में वर्णित विभाव, अनुभाव और व्याभिचारी भावों में 'साधारणीकरण' की अलौकिक शक्ति रहा करती है। इस शक्ति की ही यह महिमा है कि प्रत्येक सामाजिक अपनी-अपनी वैयक्तिक सीमाओं से परे पहुँच जाता है और अपने आपको उन महावीर, राम आदि नायकों के समान, वस्तुत: उनसे अभिन्न मानने लग जाता है। जिनकी समुद्र संतरण, रावणवध आदि-आदि लीलाएँ लोक-जीवन में अत्यन्त असाधारण, लोकोत्तर मानी गयी हैं, और वस्तुत: हैं भी।

विभाव आदि (विभाव, अनुभाव और संचारी भाव) के व्यापार का नाम साधारणीकरण है। 'विभावादि का व्यापार' शब्द से यहाँ अभिप्रेत है—समग्र, क्रियाकलाप का सम्मिश्रित रूप। इसी प्रभाव के कारण सहृदय समुद्र को भी कूद जाने वाले हनुमान जी के साथ अभेद अथवा साधारण अभिमान अर्थात् समानभाव-प्राप्त कर लेने के कारण अपने आपको भी वैसा ही समझने लगता है, तथा समुद्र-लंघन जैसे कठिन कृत्यों में मानसिक रूप से उत्साहित हो जाता है।

उत्साहादि समुद्बोध: साधारण्याभिमानत: ॥३।१०
नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादौ न दुष्यति:

यहाँ रसिक के साधारणीकृत व्यक्तित्व का निरूपण अत्यन्त सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण है। सहृदय सामाजिक की रामादि नायकों के साथ यह तादात्म्य स्थापना रसास्वाद की भूमिका तो है ही, साथ ही साथ 'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्' के सरस कर्त्तव्योपदेश की भी भूमिका है।

सामाजिकों की रत्यादि भावनाओं और नायक के रत्यादि भावों का साधारणीकरण

कविराज विश्वनाथ का कथन है कि—

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते ॥३।११

काव्य-नाट्य के विभावन व्यापार में साधारणीकरण की शक्ति है। यह शक्ति रामादिगत रत्यादि भावों को भी सामाजिकों की रत्यादि वासनाओं से एक रूप और एकरस बना देती है। जैसे काव्य-नाट्य के साधारणीकरण व्यापार से सामाजिकों में समुद्रलंघन आदि के प्रति उत्साहादि का महाभाव जाग उठता है, वैसे ही उनमें रत्यादिभाव भी उद्बुद्ध हो जाया करते हैं।

काव्य-नाट्य में उपस्थापित रत्यादि भाव न तो सामाजिकों को अपने वैयक्तिक भाव प्रतीत होते हैं और न रामादि नायकों के ही भाव मालूम पड़ते हैं,

क्योंकि यदि कोई भी सामाजिक काव्य-नाट्य में वर्णित रत्यादि भाव को
(स्वगत) रत्यादि भाव मानने लगे तब उसे, रसास्वाद मिलना तो दूर
उल्टे लज्जित होना पड़ेगा। यदि इन रत्यादि भावों को नायकादिगत (प
ही मान लिया जाय तो भी उनसे रसास्वाद नहीं मिलेगा वरन् उनके
उदासीनता और उपेक्षा ही उत्पन्न हो जायगी।

अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में काव्य-नाट्य से अभिव्यक्त रत्या
के रस रूप होने का विवेचन किया है। 'यदि सामाजिक रत्यादि भा
'स्वगत' मान ले तब उसे 'रस' नहीं मिल सकता। रत्यादि भावों के
मानने से रसास्वाद में अड़चन पहुँचती है। यदि काव्य-नाट्य वर्णित 'र
स्वगत मान लिया गया, तब रस मिलना तो दूर, सभी सामाजिकों को
छिनने का भय बना रहेगा और वे इस बात के लिए व्याकुल रहेंगें कि
यह आनन्द कैसे सुरक्षित रहे। रत्यादि भावों को 'परगत' मान लेने
रस नहीं मिल सकता वरन् विघ्न ही उत्पन्न होगा और सामाजिक नाय
के प्रति राग-द्वेष-मोह के वशीभूत होता रहेगा।

विभावादि के साधारणीकरण के सम्बन्ध में विश्वनाथ कवि
साहित्यदर्पण में लिखा है कि—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥३।१२

विभावादि का साधारणीकरण हुआ करता है। यह रसास्वाद का
पीठिकाबन्ध है। विश्वनाथ ने उपर्युक्त कारिका में लिखा है कि 'रसा
होने में सर्वप्रथम सामाजिकों को यह प्रतीत हुआ करता है, जैसा कि स्वा
है, कि न तो समुद्र लंघन आदि व्यापार उनसे भिन्न रामादि नायकों के
न यही कि वे रामादि नायकों के नहीं हैं। वस्तुतः काव्य-नाट्य समर्पित
वस्तुयें 'स्वगत' और 'परगत' के भेदभाव से परे पहुँचकर सर्वसाधारण के
अधिकार की वस्तुएँ बन जाया करती हैं और इसीलिए निर्द्वन्द्व आ
सृष्टि करने में समर्थ हुआ करती हैं।

डा० सत्यव्रतसिंह ने विश्वनाथ की उपर्युक्त कारिका पर अपना
इन शब्दों में व्यक्त किया है, "आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार 'रस
प्रतीति एक 'सकल विघ्न विनिर्मुक्त प्रतीति हुआ करती है। सहृदय सा
के लिये काव्य-नाट्य के आनन्दानुभव में सबसे बड़ा विघ्न काव्य-नाट्य-

वस्तुओं का 'स्वगत' अथवा 'परगत' रूप से ग्रहण करना हुआ करता है। लोक में वस्तुमात्र के प्रति 'ममता' अथवा 'परकीयता' की भावना स्वभावतः रहा करती है। लोक की यह ममता अथवा 'परकीयता' की भावना काव्य-नाट्य की भावकता शक्ति—साधारणीकरण की शक्ति—एक शब्द में व्यंजना शक्ति के द्वारा हटायी जाया करती है। इसके हटते समस्त काव्यार्पित वस्तुओं के प्रति सहृदय-हृदय में 'साधारणीभाव' परिपुष्ट हो उठता है, जिसके रहते रसात्मक अनुभव के अतिरिक्त कोई भी अनुभव सम्भव नहीं।'

लौकिक रत्यादि भावों के कारण-कलाप काव्य-नाट्य में आते ही स्वगत-परगत सम्बन्ध से परे प्रतीत होते हैं। इनमें अलौकिकता आ जाती है, क्योंकि—

विभावनादिव्यापारमलौकिकमुपेयुषाम् ।
अलौकिकत्वमेतेषां भूषणं न तु दूषणम् ॥३।१३

अर्थात् 'लोकगत रत्यादि भावों के कारण-कार्य एवं सहकारी तत्त्व काव्य-नाट्य के क्षेत्र में उतरते ही विभावन, अनुभावन और व्यभिचारण का अलौकिक व्यापार प्रारम्भ कर देते हैं। इनको अलौकिक कहना इनका दोष न होकर गुण ही माना जाता है।'

विभावन व्यापार—यह काव्य-नाट्य का वह व्यापार है जो सामाजिक हृदय की रत्यादि वासनाओं को विशेष रूप से रसास्वाद के रूप में अंकुरित होने में समर्थ बनाया करता है।

अनुभावन व्यापार—यह विभावन के द्वारा अंकुरित रत्यादि वासनाओं को तत्काल रसादिरूप में परिणत किया करता है।

सञ्चारण व्यापार—यह विभावन और अनुभावन के व्यापारों से अंकुरित एवं पल्लवित रत्यादि वासनाओं को सम्यक् रूप से पुष्ट बनाया करता है।

काव्य-नाट्य के विभावनादि व्यापार (व्यंजकत्व व्यापार) के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने लिखा है, 'काव्य-नाट्य में वर्णित नायक-नायिकादि किंवा चन्द्रोद्यानादि में लौकिक रत्यादि भावों के अनुमापन का सामर्थ्य नहीं। कवि अथवा नाटचकार के चित्रित जीवन-चित्र तो सहृदय सामाजिकों के हृदय में मानव-हृदय के चिरसंचित रत्यादि भावों के उद्‌बोधक हुआ करते हैं। इन जीवन चित्रों में लोक जीवन ही चित्रित रहा करता है किन्तु इनमें जो आनन्द है और जैसा इसका अनुभव हुआ करता है, वह लोक में नही और न उसका लोक में वैसा कोई अनुभव है, लोक-जीवन में कार्य-कारण भाव की सीमायें

प्रत्येक वस्तु को बाँधे रहा करती हैं। किन्तु काव्य-नाटच के क्षेत्र में कार्य-कार भाव में भी अलौकिक परिवर्तन हो जाया करता है। काव्य-नाटच के स्त्री-पु चन्द्र-चन्द्रिका आदि सहृदय सामाजिकों के हृदय में सर्व-सहृदय साधार रत्यादि भावों के अभिव्यंजक हुआ करते हैं और इसीलिए काव्य-नाटच लोक का कार्य-कारण भाव भाव्य-भावक भाव या व्यङ्ग्य-व्यंजक भाव परिवर्तित हो जाया करता है। काव्य-नाटच भावक अथवा व्यंजक तत्त्व है विभावादि की कारणता और रसोद्बोध के सम्बन्ध में विश्वनाथ कविराज लिखा है—

कारण-कार्य-सञ्चारिरूपा अपि हि लोकतः
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येव ते मताः ॥३।१४

अर्थात् 'विभाव, अनुभाव और व्याभिचारिभावों को जो क्रमशः कार कार्य और सहकारी कहा जाया करता है, वह उनके लौकिक स्वरूप के अभि की दृष्टि से, न कि उनके रसोद्बोधक की सामर्थ्य की दृष्टि से। रसोद्बोध दृष्टि से तो विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव तीनों ही समस्त-संव रूप से कारण हुआ करते हैं।

विद्वत्वर डा० सत्यव्रतसिंह ने विश्वनाथ की उपर्युक्त कारिका पर विमर्श प्रस्तुत किया है—'रसोद्बोध में विभाव, अनुभाव और व्याभिचारि कारण, कार्य और सहकारी नहीं कहा जाया करते। इन्हें रसोद्बोध में कारण, कार्य और सहकारी तब माना जा सकता था जबकि सहृदय सामा रसास्वाद में भी अपने-पराये का भेद-भाव रख सकते। रसास्वाद में अ पराये का भेदभाव नहीं है और इसलिए काव्य-नाटच की समस्त वस्तुस एकमात्र सहृदय हृदय कीं रत्यादि वासनाओं को अभिव्यक्त करने के ही रहा करती है। वस्तुतः तो काव्य अथवा नाटच को ही भावक अथवा व्यंजक कहा करते हैं। जैसे काव्य-नाटच लोक-जीवन की अलौकिक अभि है वैसे ही लोक-जीवन के कारण-कार्य-सहकारी तत्त्व काव्य-नाटच के अलौ विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी-तत्त्व हुआ करते हैं। इन अलौकिक विभाव व्यापारों वाले चन्द्रोद्यानादि काव्यतत्त्वों को सहृदय सामाजिकों के रसोद् का 'कारण' कहा जा सकता है जिसका अभिप्राय इनका 'अभिव्यंजक' हो

---

१. डा० सत्यव्रतसिंह

और अभिव्यंजक होने के ही नाते इनमें कारणता, कार्यता किंवा सहकारिता का विश्लेषण सम्भव नहीं।

इस प्रकार विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में साधारणीकरण या तन्मयी भवन का विशद विवेचन किया है और साधारणीकरण को अलौकिक शक्ति सिद्ध किया है। जिसकी महिमा से सहृदय सामाजिक अपनी वैयक्तिक सीमाओं से परे पहुँचकर नायकादि से अपने को अभिन्न मानता हुआ 'तन्मय' हो जाता है। साधारणीकरण विभावादि का व्यापार है। विभावादि अपने संवलित रूप में ही साधारणीकरण की शक्ति से युक्त हो जाते हैं। रसास्वाद विभावादित्रय का संवलित अनुभव है। ये तीनों व्यंजना की शक्ति से परस्पर संवलित रूप से प्रतीत होने लगते हैं और एकघन प्रतिभास में परिणत होकर प्रपाणक रस की तरह एक आनन्दात्मक आस्वाद का रूप धारण कर लेते हैं और तब ये विभावादि नहीं रहते, अपितु रस बन जाते हैं।

इस प्रकार सामाजिकों की रत्यादि भावनाओं और नायक के रत्यादि भावों का साधारणीकरण हो जाता है। काव्य-नाट्य के विभावन व्यापार में साधारणीकरण की शक्ति निहित रहती है।

सर्वत्र अद्भुत रस ही मूल में विराजमान

प्रश्न १४—विश्वनाथ कविराज ने सर्वत्र अद्भुत रस की स्थिति मानते हुए उसे प्रकृतिभूत रस माना है। इस कथन की विवेचना कीजिए।

उत्तर—विश्वनाथ कविराज ने रस का विवेचन करते हुए लिखा है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।
तस्माद् अद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्। सा० द० ३

अर्थात् यदि रस का सार चमत्कार है, हृदय विस्तार अथवा विस्मय है, तब यह निःसन्दिग्ध है कि समस्त रसों के अनुभवों में 'विस्मय' का ही अनुभव हुआ करता है और अद्भुत ही वह रस है जिसे 'श्रृङ्गार' आदि सभी रसों का रस माना जा सकता है। इस अनुप्राणन के ही कारण विश्वनाथ के प्रपितामह नारायण ने अद्भुत रस को समस्त रसों में अनुप्रविष्ट, समस्त रसों में अन्तरव्याप्त और समस्त रसों का अन्तर्नियामक और समस्त रसों का सार माना है।

चित्त की 'द्रुति' और 'दीप्ति' के रूप में रसास्वाद का जो विश्लेषण है, उसमें भी चित्तविस्तृति अथवा विस्मय के अनुप्राणन का विश्लेषण किया जा

सकता है। शृङ्गार-करुण आदि में चित्तद्रुति और वीर-रौद्र आदि में चित्तदी
वस्तुतः चमत्कार का ही स्वरूप है। अथवा विस्मय का ही स्वभावपरिस्पन्द है

विद्वत्वर डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि 'रस' का प्राण लोको
चमत्कार है। यह लोकोत्तरचमत्कार सहृदय सामाजिक के चित्त का विस्
है। अलौकिक काव्यार्थ के परिशीलन से सहृदय सामाजिक के हृदय में
ऐसी ज्ञानधारा-सी प्रवाहित होने लगती है जिससे ऐसा प्रतीत होने लगता
जैसे हृदय विस्तृत हो गया है। यह हृदय का विस्तार ही चमत्कार है
हृदय की 'विस्मयाविष्टता' भी कह सकते हैं। यह 'चमत्कार' अथवा
'विस्मयावेश' अद्‌भुत रस का स्वरूप है। प्रत्येक रस के अनुभव में
'विस्मयावेश' हुआ करता है। इसलिए यदि यह कहा जाय कि अद्‌भुत रस
समस्त शृङ्गारादि रसों की 'प्रकृति' है, जिसकी अपेक्षा अन्य शृङ्गारादि
'विकृति' रूप हैं तो सर्वथा युक्तियुक्त ही होगा। विश्वनाथ कविराज
प्रपितामह कवि पण्डित नारायण की यही मान्यता थी कि—'चमत्कार
रससर्वस्व होने के कारण अद्‌भुत रस को ही समस्त रसों की 'प्रकृति' मा
रसास्वाद का वास्तविक विश्लेषण है। विश्वनाथ ने अपने पितामह
प्रतिपादित, समस्त रसों में 'चमत्कार' और अद्‌भुतानुप्राणन के सिद्धान्त
उल्लेख किया है, उसे देखते यह कहना असंगत नहीं कि विश्वनाथ भी
सिद्धान्त के समर्थक हैं।

आलंकारिक भानुदत्त ने सम्भवतः कवि पण्डित नारायण से प्रभा
होकर अपने ग्रन्थ 'रसतरङ्गिणी' में शृङ्गारादि रसों के आनन्द चमत्कार
'चित्तविस्तृति अथवा 'विस्मय' को ही अंगरूप में स्वीकार किया है, यथा-

शृङ्गारादौ चमत्कारदर्शनाद् यत्र मनोविस्तृतिरङ्गतयाभासते तत्र शृं
दयो रसाः। प्राधान्येन यत्र भासते तत्राद्‌भुत एव रसः।

नारायण पण्डित का मत है कि जब तक काव्य में कोई विस्मय की
सामने नहीं आती, तब तक वह श्रोताओं तथा स्रष्टाओं के चित्त को
ओर आकृष्ट नहीं करता। सामान्य बातों से श्रोताओं का न तो मनो
होता है और न उनके हृदय का अनुरंजन। फलतः असामान्य बातें का
होनी ही चाहिए और इसलिए आश्चर्य को मूल रस मानना चाहिए। इसी
को मूल मानकर शक्तिभद्र ने रामकथा में आश्चर्य रस से समन्वित 'आ
चूड़ामणि' नामक प्रौढ़ नाटक की रचना की है।

विश्वनाथ के समय में रसविषयक 'प्रकृति-विकृति भाव' का विचारविमर्श र्याप्त रूप से प्रचलित दिखाई देता है। उनसे पूर्व भवभूति ने करुण को मूल-रस, अभिनवगुप्त ने शान्त को प्रकृति रस तथा भोजरोज ने शृङ्गार को प्रकृति स माना। अग्निपुराणकार शृङ्गाररस को प्रकृतिभूत रस मानता है।

विश्वनाथ का शान्तरस-निरूपण

प्रश्न १५—"साहित्यदर्पणकार और मम्मट दोनों ने शान्तरस का समर्थन किया है, किन्तु दोनों आचार्यों में इसके स्थायीभाव के सम्बन्ध में मतभेद है।" स कथन की विशद विवेचना कीजिए।

अथवा

"मम्मट द्वारा निरूपित 'निर्वेद' और विश्वनाथ के 'शम' में कोई तात्त्विक द नहीं है, केवल शब्द भेद है।" निर्वेद और शम के स्वरूप को स्पष्ट करते ए इस कथन की विवेचना कीजिए।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में शान्तरस ा निर्वचन इस प्रकार किया है—

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः ।।३।२४५
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः ।
अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःसारता तु या ।।३।२४६
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बन मिष्यते ।
पुण्याश्रमहरिक्षेत्र तीर्थरम्यवनादयः ।।३।२४७
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।
रोमाञ्चाद्यानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ।।३।२४८
निर्वेदहर्षस्मरणमति भूतदयावयः ।

अर्थात् 'शान्त वह रस है जो कि 'शम' रूप स्थायी भाव का आस्वाद ा करता है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति हैं। इसका वर्ण कुन्द-त अथवा चन्द्र-श्वेत है। इसके देवता श्रीभगवान् नारायण हैं। अनित्यता वा दुःखमयता आदि के कारण समस्त सांसारिक विषयों की निःसारता का न अथवा साक्षात् परमात्मस्वरूप का ज्ञान ही इसका 'आलम्बन' विभाव । इसके उद्दीपन हैं पवित्र आश्रम, भगवान की लीलाभूमियाँ, तीर्थस्थान, य कानन, साधु-सन्तों के संग आदि। रोमांच आदि इसके अनुभाव हैं और के व्यभिचारी भाव हैं—निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति, जीवदया आदि।

शान्तरस का परिपोष महाभारत आदि महाप्रबन्धों में दिखायी दे
और वहीं इसे देखना उचित भी है ।

डा० सत्यव्रतसिंह ने मम्मट के शान्तरस के निरूपण के साथ विश्व
के निरूपण की तुलना करते हुए लिखा है, विश्वनाथ कविराज ने स्वा
श्रान्तिरूप 'शम' को शान्त का स्थायी भाव कहा है जबकि काव्य-प्रका
आचार्य मम्मट के अनुसार तत्वज्ञानज 'निर्वेद' शान्त का स्थायी भा
'शान्त' रस है या नहीं—इसके सम्बन्ध में भरतमुनि से लेकर बाद के
नाट्य कोविदों तक विभिन्न विचार चलते दिखायी देते हैं ।

भरतमुनि की मान्यता में शान्त एक अतिरिक्त रस है । इसका स
समर्थन अभिनवगुप्त ने किया है । उनकी यह उक्ति है—

तत्त्वज्ञानओ निर्वेदोऽस्यस्थायी । एतदर्थमेव उभयधर्मोपिजीवित्व (स
त्वव्यभिचारित्वरूपधर्मोपजीवित्व) ख्यापनाय अमङ्गलभूतोऽप्यसौ पूर्वं नि
(अभिनव

मोक्षरूपपरमयुरुषार्थोचिता चित्रवृत्तिः सैव शान्तरसे स्थायिभावः
चिन्त्यम्—किन्नामाऽसो ? तत्त्वज्ञानोस्थितो निर्वेद इति केचित् । तथाहि
द्रयादिप्रभवो यो निर्वेदः ततोऽन्य एव, हेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात् ।
सञ्चारिमध्ये च एतदर्थमेवायं पठितः, अन्यथा माङ्गलिको मुनिस्तथा न
—अभिन

तैंतीस व्यभिचारीभावों में अमङ्गलात्मक 'निर्वेद' की प्रथम
निर्वेदात्मक शान्त की स्थापना का उपक्षेप है । इसी आधार पर म
काव्यप्रकाश में 'निर्वेद' स्थायी भाव से शान्तरस की सिद्धि की है ।
भारती की उपर्युक्त उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यप्रका
जिस 'निर्वेद' को शान्त रस का स्थायीभाव माना है वह निर्वेद दा
प्रभव निर्वेद नहीं, अपितु तत्त्वज्ञान-प्रभव निर्वेद है । काव्यप्रकाश में
लिखा है—

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'शम' और 'निर्वेद' का भी समीकरण
किया है, क्योंकि जैसे 'शम' आत्मस्वभाव है, वैसे ही 'निर्वेद' भी आत्म
रूप ही है । आचार्य विश्वनाथ ने अभिनवगुप्त की इसी मान्यता की प
'शम' को शान्तरस का स्थायी भाव माना है । काव्यानुशासन के र

भी 'शम' को ही शान्त का स्थायी भाव माना है और 'शम' का अभिप्राय 'तृष्णाक्षय' लिया है। नाट्यदर्पणकार के भी अनुसार 'शम' ही शान्तरस का स्थायी भाव है—

'संसारमय–वैराग्य–तत्त्व–शास्त्रविमर्शनः ।
शान्तोऽभिनयनं तस्य क्षमा ध्यानोपकारतः ॥'

दशरूपककार धनञ्जय की 'शान्तरस' सम्बन्धी मान्यता इस प्रकार है, जिसमें 'शम' को शान्त के स्थायी भाव के रूप में निरूपित किया गया है—

निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।४।३६
शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादैस्तदात्मता ।४।४५

डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है, यद्यपि विश्वनाथ कविराज 'शान्तरस के सम्बन्ध में' दशरूपककार के इस मत का खण्डन करते हैं कि शान्त नाट्य का रस नहीं अपितु काव्य का ही 'यथाकथञ्चित्' रस हो सकता है, किन्तु 'निर्वेद' के बदले 'शम' को शान्तरस का स्थायी भाव मानने में उन्होंने दशरूपककार का अनुसरण भी किया है।

मम्मट ने जिस 'निर्वेद' को शान्तरस का स्थायीभाव माना है, उसका लक्षण नहीं किया है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका निर्वेद 'दारिद्रय-व्याधि-अवमान-अधिक्षेप-इष्टजनवियोग आदि आदि कारणों से उत्पन्न निर्वेद नहीं अपितु तत्त्वज्ञानसम्भूत ही निर्वेद' हो सकता है। किन्तु तत्त्वज्ञान से होने वाला 'निर्वेद' स्वावमानरूप नहीं हुआ करता। यह 'निर्वेद' अभावरूप नहीं अपितु एक भावरूप पदार्थ है। समदर्शी पुरुष ब्रह्मभूत हुआ करते हैं, क्योंकि समदर्शिता ब्रह्म भाव है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचती न कांक्षति ।
समस्सर्वेषुभूतेषु मद्भक्ति लभते पराम् ॥—गीता

इस निर्वेद का ही नामान्तर 'तृष्णाक्षयसुख' है जिसका उल्लेख आचार्य आनन्दवर्धन ने किया है।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिब्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ —ध्वन्यालोक

डा० सत्यव्रतसिंह ने मम्मट और आनन्दवर्धन के मतों की समीक्षा करते हुए लिखा है कि 'इस प्रकार शान्त के स्थायी भाव के रूप में आचार्य आनन्द-

वर्धन का 'तृष्णाक्षयसुख' के प्रति पक्षपात और आचार्य मम्मट का 'निर्वे
प्रति पक्षपात—एक ही तत्त्व के प्रति पक्षपात है। 'तृष्णाक्षय सुख' के स
पर आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' का नाम इसलिये लिया है क्योंकि 'नि
नाट्यशास्त्र में परिगणित ४९ भावों में आता है, किन्तु आचार्य मम्म
निर्वेद 'न शोचति न कांक्षति' अथवा 'तृष्णाक्षयसुख' का ही अभिप्राय र
है। ध्वनिकार ने 'निर्वेद' के अभिप्राय के प्रकाशनार्थ 'तृष्णाक्षयसुख
उल्लेख किया है, जो सर्वथा युक्तियुक्त है, जैसा कि लोचनकार की इस प
से स्पष्ट है—

'तृष्णानां विषयभिलाषाणां यः क्षयः सर्वतो निवृत्तिरूपो निर्वेद
सुखं तस्य स्थायिभूतस्य यः परिपोषः रस्यमानताकृतस्तदेव लक्षणं यस
शान्तो रसः। (ध्वन्यालोकलोचन ३

विश्वनाथ कविराज ने जिस 'शम' को स्थायी भाव माना है,
'शम' है—

निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्।

अर्थात् 'वैराग्य आदि के द्वारा निर्विकारचित्तता। यह शम आत्मस्व
रूप है, तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञानरूप है और निर्वेदरूप है। अभिनवग
कार ने 'शम' और 'निर्वेद' का समीकरण करते हुए दोनों को आत्मस्व
रूप माना है। निर्वेद का अभिप्राय आचार्य आनन्दतीर्थ ने 'नितराला
'निरतिशय लाभ' ही लिया है, जिसका भाव 'आत्मारामतारूप महालाभ
इस प्रकार शान्तरस का स्थायीभाव निर्वेद या समानार्थक 'शम' या तृष्ण
सुख या 'आत्मज्ञान' मानने में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, केवल शब्दभेद

आचार्य विश्वनाथ का स्पष्ट मत है कि 'शम' स्थायी भाव होने से
रस में अहंकार किंचिन्मात्र भी नहीं रहता। शम का स्वरूप स्पष्ट कर
उन्होंने लिखा है—

युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन् सञ्चार्यादेः स्थितिश्च न विशुद्धा ॥३।२५

अर्थात् शान्तरस का स्थायी भाव शम उस प्रकार का 'शम' है ज
युक्त (ब्रह्मध्यानमग्न) किंवा वियुक्त (सिद्ध) अवस्थाओं में विराजमा
करता है। इस दृष्टि से इसमें व्यभिचारिभावों के परिपोष आदि की
असंगत नहीं अपितु, सर्वथा संगत है। यहाँ सुखाभाव का तात्पर्य 'वै

सुखाभाव' है, शम और परमसुख रूप सुखाभाव नहीं है। इसीलिए यह कहा गया है कि 'क्या लौकिक विषय सुख और क्या अलौकिक स्वर्ग-सुख—ये कोई भी ऐसे नहीं जो तृष्णाशमन के सुख की सोलहवीं कला की भी बराबरी कर सकें।' शान्तरस वह समुद्र है जिसमें यदि दयावीर, धर्मवीर, दानवीर, देवताविषयक रति आदि सभी प्रकार की अहंता-ममता के भावों से निर्मुक्त हो जायँ तो डूबते-उतराते दिखायी देने लगें। शमप्रधान शान्तरस का अन्यत्र अन्तर्भाव असंभव है।

जिस प्रकार पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष का पर्यान्तिक महत्त्व सिद्ध है वैसे ही रसों में भी शान्त का पार्यन्तिक आस्वाद सिद्ध है। इसी भावना से प्रेरित होकर विश्वनाथ ने 'शान्त' की सिद्धि की है। 'शम' दृश्यकाव्य अथवा श्रव्य-काव्य के बन्ध से अभिव्यञ्जन में कोई वैषम्य प्रस्तुत नहीं करता। इस प्रकार 'शम' स्थायी भाव के वर्णन अथवा अभिनय में कोई भेद नहीं और न कोई अनुपपत्ति ही है। आचार्य वेदान्तदेशिक ने भी इस मत का समर्थन किया है।

विश्वनाथ का वात्सल्य रस सम्बन्धी दृष्टिकोण

प्रश्न १६—आचार्य विश्वनाथ के 'वात्सल्य रस' सम्बन्धी दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने अलंकारशास्त्र के इतिहास में प्रथम बार 'वत्सल रस' का निरूपण किया है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में इसका स्वरूप निर्देश नहीं किया, क्योंकि वे पुत्रादि विषयक रतिभाव की अभिव्यक्ति को 'रसध्वनि' नहीं मानते। मम्मट ने 'वत्सलता' को 'भाव-ध्वनि' के अन्तर्गत निरूपित किया है। आचार्य विश्वनाथ ने 'वत्सलता' को रस के रूप में निरूपित किया है। उन्होंने अपने समय के सहृदयों की विचारधाराओं के अनुमोदन में 'वात्सल्य' की अभिव्यक्ति को 'वत्सल' रस माना है। उनके अनुसार 'वात्सल्य रस' को मानने की एक प्राचीन परम्परा है, यह मुनीन्द्र सम्मत रस है—

'अथ मुनीन्द्रसम्मतो वत्सलः
स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ।।३।२५१

अर्थात् 'भरतमुनि की मान्यता में दसवाँ रस वात्सल्य रस—भरतमुनि आदि काव्य-नाट्य-कोविदों ने एक और भी रस मान रखा है, और वह रस है,

वर्ध-
वत्सल रस।' इसे इसलिए रस माना गया है, क्योंकि इसका चमत्कार
रसों के चमत्कार से अतिरिक्त प्रकार का ही आनन्द है। इसका स्थायि
'वात्सल्य प्रेम' है। इसका आलम्बन वात्सल्य स्नेह का भाजन पुत्र आदि

वात्सल्य रस के उद्दीपन और अनुभाव आदि का वर्णन करते हुए क
विश्वनाथ ने लिखा है—

उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः।
आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्श शिरश्चुम्बनमीक्षणम् ॥३।२५२
पुलकानन्द वाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
सञ्चारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः ॥३।२५३
पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातदः।

अर्थात् पुत्रादि की चेष्टाओं में उनकी विद्या, शूरता, दया आदि (व
भाव के) उद्दीपन विभाव का कार्य करते हैं। आलिङ्गन, अङ्गस्पर्श, शिरा
सस्नेह वीक्षण, रोमाञ्च, आनन्दाश्रु आदि-आदि इसके अनुभाव हैं।
व्याभिचारीभावों में अनिष्ट शंका, हर्ष, गर्व आदि का समावेश है। इस
पद्मगर्भ वर्ण (शुभ्र-पीत) है और इसके देवता गौरी आदि षोडश मातृ

वात्सल्य रस का उदाहरण विश्वनाथ ने कालिदास के रघुवंश से
के रघु-प्रेम' प्रसंग से प्रस्तुत किया है—

यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो
ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम्।
अमूच्च नम्रः प्रणिपात शिक्षया
पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः॥

अर्थात् 'शिशु रघुकुमार ने पिता दिलीप को आह्लादित कर दिया
के सिखाये 'माँ' आदि शब्दों को बोलते-तुतलाते, धाय की अंगुली
चलते-फिरते, धाय के सिखाने से बड़े-बूढ़ों को प्रणाम करते, सभी प्र
बाललीला से बालक ने पिता को प्रसन्न कर दिया।'

मम्मट और विश्वनाथ का मतभेद

काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'वत्सल' कोई अतिरिक्त रस नहीं
वात्सल्य रूप रति का ही अभिव्यंजन है और 'भावध्वनि' में अन्त
मम्मट की यह मान्यता प्राचीन परम्परा से अनुप्राणित है। आचार्य

ने 'वत्सलता स्नेह' के अभिव्यंजक आस्वादन को वात्सलरस के रूप में मान लिया है ।

विद्वत्वर डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि 'वत्सल रस का एक क्रमिक इतिहास भी है, जिसे देखते वत्सल रस के प्रति विश्वनाथ कविराज का अभिनिवेश उचित ही लगता है । कतिपय प्राचीन काव्याचार्य रतिभाव में 'साम्प्रयोगिक' और 'असाम्प्रयोगिक' भेद मानकर साम्प्रयोगिक रति की 'अभिव्यक्ति' में शृङ्गार की भाँति 'असाम्प्रयोगिक' रति की अभिव्यक्ति में 'प्रेयान्' को भी रसरूप में मान चुके हैं, जिसका स्थायीभाव 'स्नेह' है । 'स्नेह' रूप स्थायीभाव का अभिप्राय 'सुहृत्प्रेम' है । रामायण में राम और सुग्रीव का 'स्नेह' अथवा मुद्राराक्षस में राक्षस और चन्दनदास का 'सुहृत्प्रेम' साम्प्रयोगिक रति नहीं अपितु इससे सर्वथा विलक्षण प्रेमभाव है जिसकी पूर्णाभिव्यक्ति को पृथक् 'रस' मानना आवश्यक है । इसीप्रकार 'वत्सलता' भी साम्प्रयोगिक रतिभाव से एक विलक्षण भाव है, जिसकी अभिव्यक्ति 'वात्सल्य' रस के रूप में स्वाभाविक है । नृपविषयक अथवा गुरुविषयक रतिभाव को साम्प्रयोगिक रति कैसे माना जाय ! इसे 'प्रीति' कहना अधिक उपयुक्त है । इसी भाँति भगवद्-विषयक रतिभाव को 'भक्ति' कहना उचित है । रतिभाव के इन विलक्षण रूपों के अभिव्यंजन में भिन्न-भिन्न रसों की मान्यता की आलोचना भी होती आयी है, जैसा कि अभिनव भारती की इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

'आर्द्रतास्थायिक: स्नेहो रस इति त्वसत ।....तथाहि बालस्य माता पित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्त: यूनो: मित्रजनेरतौ, भ्रातरि धर्मवीर एव । एवं वृद्धस्य पुत्रादावपि द्रष्टव्यम् ।'

जिसका तात्पर्य यह है कि वात्सल्य आदि को पृथक् रस न मानकर शृङ्गारादि में ही अन्तर्भूत मानना नाट्यशास्त्र की मर्यादा का अनुसरण है । काव्यानुशासन में हेमचन्द्र ने भी वात्सल्य का स्थायी भाव रति या स्नेह ही माना है ।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विचारधाराओं के रहते हुए भी अनेक काव्यमर्मज्ञ 'वात्सल्य' को पृथक् रस रूप में ही मानना उचित समझते हैं । इनमें विश्वनाथ कविराज वात्सल्य का स्थायी भाव 'वत्सलतारूप स्नेह' मानते हुए इसे दशम रस मानते हैं । कवि कर्णपर ने 'वात्सल्य' का स्थायीभाव 'ममकार माना है । मन्दार-मरन्द चम्पूकार ने 'कारुण्य' को वात्सल्य का स्थायीभाव माना है । निष्कर्ष यह कि वात्सल्य का कोई भी स्थायीभाव क्यों न माना जाय, आचार्य

विश्वनाथ ने इसकी दशम रस के रूप में स्थापना करके इसको गौरव प्र किया है। उनका इस रस का निरूपण मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण है। नाटचश के प्रणेता भरतमुनि द्वारा सर्वप्रथम वात्सल्य रस की चर्चा की गई साहित्यदर्पणकार ने इसे पृथक् रस के रूप में मान्यता दी और इसकी प्रभाव प्रतिष्ठा की—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सल च रस विदुः।

विश्वनाथ की गुण-अलंकार सम्बन्धी दृष्टि

प्रश्न १७—"गुण रसरूप काव्यात्म तत्त्व के 'स्थिर धर्म' हैं और अल उसके आधारभूत शब्दार्थ शरीर के 'अस्थिर धर्म' हैं।" इस कथन के आ पर आचार्य विश्वनाथ की गुण और अलंकार सम्बन्धी दृष्टि की विवे कीजिए।

अथवा

अलंकार के सम्बन्ध में विश्वनाथ का दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—अलङ्कार सम्प्रदाय के अनुसार काव्य में अलङ्कारतत्त्व प्रधान अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह ने लिखा है—

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितानननम्॥

—काव्यालङ्कार १

अर्थात् जैसे किसी रमणी का सुन्दर मुख भी बिना अलङ्कार के म नहीं प्रतीत होता, वैसे ही सुन्दर कविता भी बिना अलङ्कार के मनोहर होती।

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन ने अलङ्कार-सम्प्रदाय के मत में संशोधन एवं परिवर्तन करते हुए लिखा है—

युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणंतदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सवलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्योवपुरिवयौवनबन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते॥

—काव्यालङ्कार ३

अर्थात् जैसे लावण्य आदि गुणों से विशिष्ट रमणी का रूप कटक-कु आदि अलङ्कारों की सुन्दर योजना से और भी चमक उठता है, वैसे ही म आदि गुणों से युक्त कविता का स्वरूप अनुप्रास-उपमा आदि अलङ्कार

समुचित योजना से और भी मनोरम बन जाता है। कविता के माधुर्य आदि गुण तो युवती या रमणी के लावण्य आदि गुणों की भाँति हैं जिनके अभाव में अनुप्रास-उपमा आदि अलङ्कार वैसे ही श्रीहीन प्रतीत होते हैं, जैसे कि लावण्य आदि के अभाव में रमणी के कटक-कुण्डल आदि अलङ्कार हतप्रभ प्रतीत होते हैं।

आचार्य वामन ने रीतिसम्प्रदाय के अन्तर्गत अलङ्कार-प्राधान्य के स्थान पर गुण-प्राधान्य की जो धारणा प्रवर्तित की, वह क्रमशः ध्वनि सम्प्रदाय में अलङ्कारों की अप्रधानता में परिणत हो गई। इस प्रकार क्रम से प्रारम्भ में अलङ्कार का प्राधान्य रहा, तदुपरांत गुण का और फिर अलंकार की अप्रधानता का युग आया। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने अलङ्कार के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाःस्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥

—ध्वन्यालोक २।७

उनके अनुसार गुण, अलङ्कार, रीति, वृत्ति—ये सभी रस के आश्रित हैं। रस व्यंजकता ही उनकी सार्थकता है। अंगाश्रित अलङ्कार को कटक आदि मानवीय अलङ्कारों की तरह समझना चाहिए।

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में ध्वनिकार की इसी धारणा का अनुमोदन करते हुए लिखा है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥८।१
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥८।२

अर्थात् 'जिस प्रकार शरीर में प्रधानतया विराजमान (चित्स्वरूप) आत्मा के शौर्य आदि धर्म आत्मा के साथ अपृथक् सिद्ध अथवा नियतावस्थित रहा करते हैं और आत्मतत्त्व की ही श्रीवृद्धि किया करते हैं, उसी प्रकार काव्य में प्रधानतया विराजमान आनन्दरूप रस के भी माधुर्य, ओज और प्रसाद रूप रस के साथ अपृथक् सिद्ध किंवा नियमतः अवस्थित रहते हुए, रस तत्त्व की ही श्रीवृद्धि किया करते हैं और इसीलिए रस के गुण कहे जाया करते हैं।

जिन्हें 'अलङ्कार' कहना चाहिए, जैसा कि शब्द के अलङ्कार—अनुप्रास आ
और अर्थ के अलङ्कार—उपमा आदि वे उसी भाँति हैं, जिस भाँति हार आ
आभूषण हुआ करते हैं। अर्थात् जैसे हार आदि आभूषण कण्ठ आदि अङ्ग
सौन्दर्यवर्धक हुआ करते हैं, वैसे ही अनुप्रास और उपमा आदि अलङ्कार श
और अर्थरूप अङ्ग के सौन्दर्यवर्धक हुआ करते हैं। यह एक दूसरी बात है
कभी जैसे किसी सुन्दरी के कण्ठ का आभूषण उसके वास्तविक सौन्दर्य—उ
सुन्दर व्यक्तित्व में चार चाँद लगा दे, वैसे ही कभी किसी कविता के श
अथवा अर्थ का अलङ्कार उसके वास्तविक सौन्दर्य—उसके रसरूप आत्मत
के भी चमक उठने में हाथ बँटाये।

मम्मट ने ध्वनिकार की मान्यता का ही अनुमोदन किया है। ध्वन्याल
लोचनकार ने लिखा है—'अनुप्रास और उपमा आदि और अर्थ के अल
साक्षात् तो अङ्गों के अलङ्कार हैं—वाचक और वाच्यरूप काव्यांग
शोभावर्धक हैं और वैसे ही हैं जैसे कि कामिनी-शरीर के कटक-कुण्डल आ
आभूषण हैं।

प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में 'गुण' और 'अलङ्कार' की चर्चा तो होती
रही थी, किन्तु 'गुण' और 'अलंकार' की यह चर्चा निराधार थी, क्योंकि प्रा
आलंकारिक रसरूप 'गुणी' से परिचित नहीं थे और रसरूप 'अलंकार्य' से
अपरिचित थे। अतः वे गुण और अलङ्कार के वास्तविक स्वरूप को भी
जानते थे। गुण तो गुणी से सदा अपृथक् सिद्ध होगा किन्तु अलङ्कार के
अलंकार्य से साक्षात् सम्बद्ध होना आवश्यक नहीं। अलङ्कार तो रस
काव्यात्मतत्त्व के अङ्गभूत वाच्य-वाचक को ही साक्षात् अलंकृत कर सके
गुण और रस में तो धर्म-धर्मी-भाव सम्बन्ध है, किन्तु रस और अलङ्कार
भूष्य-भूषक भाव सम्बन्ध है, अतः ये परम्परया सम्बद्ध हैं। जिसे अलं
कहते हैं, वह न तो शब्द है और न अर्थ, अपितु शब्दार्थशरीर 'काव्य' है
है। शब्द के अलङ्कार रसरूप अलंकार्य के वाचकरूप अङ्ग और अर्थ
अलङ्कार रसरूप अलंकार्य के वाच्यरूप अङ्ग के अलङ्कार हैं। जैसे हार
आदि कामिनी के कलेवर के अलङ्कार हैं, उसके व्यक्तित्व के नहीं, उसी प्र
अनुप्रास-उपमा आदि को भी कविता-व्यक्तित्व का नहीं; अपितु कविता-कले
शब्द और अर्थ का ही अलङ्कार कहा जाना चाहिए।

आचार्य विश्वनाथ का मत

ध्वनिवादियों की परम्परा में आचार्य विश्वनाथ की भी यही दृढ़ धारणा है कि 'गुण' तो रसरूप काव्यात्मतत्त्व के 'स्थिर' धर्म हैं और जिन्हें 'अलङ्कार' कहा जाता है, वे रसरूप काव्यात्मतत्त्व के आधारभूत शब्दार्थशरीर के 'अस्थिर' धर्म हैं। दशम परिच्छेद में विश्वनाथ ने लिखा है—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥१०।१

अर्थात् 'अलङ्कार' शब्द और अर्थ के उन अस्थिर धर्मों को कहा करते हैं जो मानव के शरीर की शोभा के बढ़ाने वाले अङ्गद (बाजूबन्द) आदि अलङ्कारों की भाँति काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाया करते हैं और अन्तोगत्वा काव्य के आत्मभूत रस-भाव के अभिव्यंजन में सहायक हुआ करते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बाजूबन्द आदि आभूषण मानव-शरीर के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हुए मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रकाशन में सहायता पहुँचाया करते हैं, वैसे ही 'अनुप्रास' और 'उपमा' आदि अलङ्कार काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हुए काव्य के आत्मतत्त्व रस-भाव के प्रकाशन में सहायता पहुँचाया करते हैं। अलङ्कारों को 'शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म' कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य में इनकी स्थिति गुणों की भाँति आवश्यक अथवा अनिवार्य नहीं हुआ करती।

ध्वनिवादी आलंकारिक अलंकारों को काव्य के 'अस्थिर धर्म' के रूप में मानते हैं। इस मान्यता की मूलभावना ध्वनिकार आनन्दवर्धन की ध्वन्यालोक में व्यक्त यह उक्ति है—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणौषिता॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादेरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्व साधनम् ॥ २।१८-१९

जिसमें यह स्पष्ट है कि रसरूप अङ्गी की दृष्टि से ही अलंकारों का गृहण-परित्याग, निर्वाह-अनिर्वाह आदि संभव हैं और अलंकारों का ग्रहण परित्याग इसी बात का प्रमाण है कि अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म अथवा आगमपायी वैशिष्ट्य हैं। ध्वन्यालोकलोचनकार का स्पष्ट मत है कि काव्य में

अलंकारों की उपयोगिता काव्य के वाच्यवाचकरूप अङ्गों की शोभावर्धकता
ही कारण हैं। यही बात मम्मट ने काव्यप्रकाश में भी कही है। साहित्यदर्प
कार को यह 'अलंकारवाद' सर्वथा मान्य है। उन्होंने दोष को रसात्म
वाक्यरूप काव्य की सुन्दरता का विघायक माना है तो गुण, रीति और अलंक
को उसकी सुन्दरता का कारण माना है—

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः ।।१।३

काव्यात्मभूत रस के उत्कर्षकारक तत्त्व ही रसात्मक वाक्य-रूप काव्य
उत्कर्षकारक तत्त्व हुआ करते हैं। ये हो वे तत्त्व हैं जिन्हें गुण, अलंकार औ
रीति कहा करते हैं। इनमें माधुर्य आदि गुण, अनुप्रास-उपमादि अलंकार औ
वैदर्भी आदि रीति तत्त्व काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ के उत्कर्षकार
होते हुए उसी प्रकार काव्य के आत्मभूत रस के उत्कर्षकारक माने जाया कर
हैं जिसप्रकार शौर्य आदि गुण, कटक कुण्डलादि अलंकार और अवयव-विन्य
आदि शरीर-संस्थान मानव शरीर के उत्कर्षक होते हुए मानव-व्यक्तित्व
उत्कर्षक माने जाया करते हैं।

यहाँ गुणों के काव्यशरीरभूत शब्द और अर्थ के उत्कर्षकारक होने में
विशेष बात है, और वह यह है कि वस्तुतः तो माधुर्य आदि गुण रस-
काव्यात्मकतत्त्व के धर्म हैं, किन्तु उपचारतः इन्हें काव्य शरीरभूत शब्द औ
अर्थ का भी धर्म माना जा सकता है, क्योंकि रस के अभिव्यंजक शब्द औ
अर्थ रस धर्मभूत गुण के भी अभिव्यंजक हुआ ही करते हैं। इस प्रक
गुण के रसोत्कर्षकारक कहे जाने का अभिप्राय गुणाभिव्यञ्जक शब्द और
का रसोत्कर्षककारक कहा जाना है।

विद्वत्वर डा० सत्यव्रतसिंह ने साहित्यदर्पणकार के अलंकार सम्बन्धी म
की समीक्षा करते हुए लिखा है कि 'काव्यप्रकाशकार ने तो काव्य साहि
की सूक्तियों के विचार-विमर्श से यह स्पष्ट कर दिया है कि अलंकार क्यों
काव्य में 'चलस्थिति' (अस्थिर) हैं अथवा सर्वदा और सर्वथा उपादेय न
हुआ करते। 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' (शब्दार्थौ काव्यम्) की मान्यता
ध्वनिवादी काव्यालोचना की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता है। किन्तु विश्वन
कविराज ने 'अनलङ्कृतीपुनःक्वापि (शब्दार्थौ काव्यम्) का खण्डन किया
और जिस 'यः कौमारहरः' आदि रचना को काव्यप्रकाशकार ने, स्फुटालं
विरह' में भी (स्पष्ट रूप से कवि द्वारा किसी अलंकार की योजना के अ

में भी) रसमयी कविता के रूप में देखा है, उसे ही उन्होंने, दो-दो अलंकारों अर्थात् 'विभावना' और 'विशेषोक्ति' के परस्पर सङ्कर द्वारा अलङ्कृत होने पर ही 'कविता' के रूप में देखे जाने का संकेत किया है। विश्वनाथ कविराज की इस धारणा से क्या निष्कर्ष निकल सकता है ? यहाँ तो ऐसा समझने के लिए हम विवश हो जाते हैं कि 'अलंकार' काव्य के अस्थिर धर्म नहीं, अपितु स्थिर धर्म हैं। विश्वनाथ कविराज ने एक भी ऐसी सूक्ति नहीं उद्धृत की जिसमें यह दिखायी दे सके कि अलंकार काव्य के 'अस्थिर' धर्म हैं।'

एक दूसरी त्रुटि की ओर भी डा० सिंह ने ध्यान आकर्षित किया है। वह यह कि विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में 'चित्र' काव्य नहीं, फिर दशम परिच्छेद में शब्दचित्र और अर्थचित्ररूप काव्य प्रकार की विविध रूपरेखाओं के प्रदर्शन का क्या अभिप्राय ? साहित्यदर्पण के दशम परिच्छेद की विचारधारायें इस ओर भी संकेत नहीं करतीं कि जिन-जिन अलंकारों का विचार-विमर्श किया गया है, उन-उन के द्वारा 'रसात्मक वाक्य' की शोभा कैसे बढ़ती दिखायी देती है। यहाँ तो वस्तुतः ऐसा लगता है कि ध्वनि के सिद्धान्त और व्यवहार में कोई सम्बन्ध नहीं।'

आचार्य विश्वनाथ पर 'अलंकार सर्वस्वकार' का विशेष प्रभाव है। उन्होंने 'रसवत्' आदि अलंकारों को भी अतिरिक्त अलंकार रूप में भी प्रतिपादित किया है और गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के इतराङ्ग नामक भेद के उदाहरण में 'रसवत्' आदि अलंकार-सूक्तियों को ही उदाहृत किया है, किन्तु तब भी 'रसवत्' आदि की अतिरिक्त अलंकाररूप में मान्यता उन्हें अभीष्ट है। इसका कारण निरूपित करते हुए डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि 'ऐसा लगता है कि उन्होंने अलंकारसर्वस्वकार का अनुसरण अथवा अनुकरण में ही परस्पर विरुद्ध बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और अपने नवीन मत के रूप में 'रसवदादि' अलंकारों की मान्यता के लिये ध्वनिकार को प्रमाणरूप से रख दिया।' ध्वनिकार ने भामह आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत 'रसवत्' आदि को अलंकार नहीं माना है। इस प्रकार साहित्यदर्पणकार का एक ओर तो रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत ध्वनि-वादी परम्परा का अनुकरण करना और दूसरी ओर भामह आदि अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों की भाँति रसवद् आदि को अलंकार के रूप में निरूपित करना उचित नहीं है।

निष्कर्ष—गुण रस के धर्म हैं, यह सिद्धान्त ध्वनि दार्शनिकों का एक

परिनिष्ठित काव्य सिद्धान्त है, जिसे विश्वनाथ ने इन शब्दों में मान्यत
दी है—

रसस्याङ्गित्व माप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।

गुणाः माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ॥८।१

अर्थात् 'जैसे प्राणी शरीर में सारभूत आत्मतत्त्व के धर्म, शौर्य, औदा
आदि गुण कहे गए हैं, वैसे ही काव्य-शरीर में सारभूत रस-तत्त्व के धर्म माधु
ओज, प्रसाद आदि गुण कहे जाते है ।' अलंकार को विश्वनाथ ने शब्द औ
अर्थ के अस्थिर धर्म माना है जो काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ की शोभ
बढ़ाया करते हैं । जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, विश्वनाथ ने अलंकार
सम्बन्ध में ध्वनिवाद की मान्यता का अनुसरण किया है किन्तु वे उसे पूर्णरू
आत्मसात् नहीं कर पाये हैं । उनका विवेचन कहीं-कहीं परस्पर-विरोधी है ।

विश्वनाथ का नायक-नायिकादि निरूपण

**प्रश्न १८—विश्वनाथ कविराज के नायक-नायिकादि निरूपण की विवेच
करते हुए उसका अभिप्राय बताइये ।**

अथवा

**विश्वनाथ का यह मत है कि नायक-नायिकादि निरूपण से काव्यरच
में प्रवृत्त कवि 'विभावाद्याभास' से बच सकता है । इस मत की स्पष्ट विवेच
कीजिए ।**

उत्तर—साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में विश्वनाथ कविराज ने र
का निरूपण किया है । प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा है कि काव्यात्मतत्त्व र
स्वरूप का निरूपण किया जाता है । विभावादि द्वारा सहृदय-हृदय में अ
व्यक्त रत्यादिरूप स्थायीभाव ही 'रस' है । विभाव के दोनों रूपों का व
करते हुए कविराज ने नायक-नायिकादि भेद का विशद निरूपण किया है—

आलम्बन नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् ।३।२९

यहाँ 'नायिकादि' का अभिप्राय नायक के अतिरिक्त नायिका, उपनाि
आदि-आदि का है क्योंकि इनके सहारे भी, साधारणीकरण होने पर सामाजि
को रसास्वाद मिला करता है, विभाव के दो भेद माने गए हैं—(१) आलम
रूप विभाव (२) उद्दीपन रूप विभाव । आलम्बनरूप विभाव इसलिए कहे
क्योंकि इन्हीं के सहारे, इन्हीं के साथ, साधारणीकरण होने के कार
सामाजिकों के हृदय में 'रस' का सञ्चार हुआ करता है । नायक का स्व

निरूपण करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि 'नायक वह है जो त्याग भावना से भरा हो, महान् कार्यों का कर्ता हो, कुल का महान् हो 'बुद्धि-वैभव से सम्पन्न हो, रूप-यौवन और उत्साह की सम्पदाओं से सम्पन्न हो, निरन्तर उद्योगशील रहने वाला हो, जनता का स्नेहभाजन हो और तेजस्विता, चतुरता, किंवा सुशीलता का निदर्शक हो। अभिप्राय यह कि जिस व्यक्ति में त्याग आदि गुणों का सर्वतोभद्र सद्भाव हो, वही काव्य-नाटच में नायक-नेता हुआ करता है। काव्य-नाटच के इस नायक के कई भेद होते हैं। सर्वप्रथम विश्वनाथ ने उसके चार भेद बताए हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त।

रस के आलम्बन रूप से काव्य-नाटच में उपस्थापित 'नायिका' में भी 'नायक' के ही त्याग, आर्जव आदि सामान्यगुण यथा सम्भव उपनिबद्ध किये जाया करते हैं। नायिका के स्वस्त्री (स्वीया), अन्यस्त्री (परकीया) और साधारणस्त्री (सामान्या) ये तीन भेद पाये जाते हैं।

नायक के भेद—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीर प्रशान्त ये चार नायक दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ इन चार रूपों में चित्रित होकर १६ भेदों में विभक्त दिखाई देते हैं। अर्थात् चारों प्रकारों के नायकों में भी प्रत्येक के दक्षिणादि चार-चार भेद होते हैं। इनके उत्तम-मध्यम-अधम रूप होने से ४८ नायक-भेद हो जाते है। नायक का सहायक 'पीठमर्द' कहलाता है। शृङ्गार प्रबन्ध के नायकों के सहायक विठ, चेट, विदूषक आदि होते हैं। नायक के अर्थ चिन्तन में सहायक को मन्त्री कहते हैं। नायक के धर्मसहायक ये होते हैं—याज्ञिक, पुरोहित, वेदवित् और तपस्वी। नायक के सहायकों में उत्तम पीठमर्द, मन्त्री, पुरोहित आदि हैं; मध्यम विट और विदूषक हैं तो शकार, चेट आदि अधम सहायक कहे जाते हैं। नायक के तीन प्रकार के दूत ये हैं—निसृष्टार्थ, मितार्थ और संदेशहारक नायक के विश्वनाथ ने आठ सात्त्विक गुण बताए हैं— शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, तेज, ललित और औदार्य।

नायिका के भेद—स्वीया नायिका के तीन प्रकार ये हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। इन तीनों में से मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के अवान्तर भेद इस प्रकार हैं—धीरा, अधीरा और धीरा-धीरा। इस प्रकार मध्या और प्रगल्भा के ६ भेद हुए। इनके भी दो-दो भेद हुआ करते हैं, जिनका कारण नायक के प्रेम की न्यूनता या अधिकता (कनिष्ठा और ज्येष्ठा) है। इस प्रकार मध्या और प्रगल्भा नायिकायें बारह प्रकार की होती हैं। और एक प्रकार की

मुग्धा। इस प्रकार स्वीया के तेरह भेद हुए। दशरूपककार ने भी स्वीया के तेरह भेद बताए हैं।

परकीया नायिका के दो भेद इस प्रकार हैं :

(१) परोढा—पर परिणीता।

(२) कन्यका—अपरिणीता।

सामान्या नायिका रतिकलाकुशल किंवा संगीतादि कलाओं में पारं हुआ करती है।

उपर्युक्त १६ प्रकार की नायिकाओं के भी अवस्था भेद से आठ-आ भेद हैं। (१) स्वाधीन भर्तृका (२) खण्डिता (३) अभिसारिका (४) कलहान्तरिता (५) विप्रलब्धा (६) प्रोषितभर्तृका (७) बासकज्जा और (८) विरहोत्कण्ठिता। उपर्युक्त नायिका भेद के १६ × ८ = १२८ प्रकार हुए। इ १२८ नायिकाओं के भी उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन प्रकार हैं, इसलि समस्त नयिका भेद १२८ × ३ = ३८४ हुए।

नायिकाओं के २८ अलंकार हैं जो कि शृंगाराभिव्यंजक सात्त्विक अलं कहे गये हैं और उनके यौवन से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें अङ्गज अलं तीन हैं—भाव, हाव और हेला। अयत्नज अलंकार सात हैं—शोभा, कां दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य। स्वभावज अलङ्कार १८ हैं लीला, विलास, विच्छित्ति, विव्वोक, किलकिञ्चत, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्र ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कतूहल, हसित, चकित और केलि इन २८ अलङ्कारों में से पूर्व परिगणित १० अलङ्कार—भाव से धैर्य तक नायक के भी सात्त्विक किंवा यौवन सम्बन्धी अलङ्कार माने जाते हैं।

प्रतिनायक का लक्षण विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है—

धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः।

अर्थात् प्रतिनायक वह है जो नायक का प्रतिस्पर्द्धी हुआ करता है। स्वभाव का धीरोद्धत, पापाचरण में तत्पर किंवा व्यसनों में आसक्त रहा कर है। यथा रामकथा में राम नायक का प्रतिनायक रावण।

नायक-नायिका भेद का वर्णन क्यों ?

रस ध्वनिवादी काव्याचार्य 'रस' 'भाव' और रसभास-भावाभास विवेक आवश्यक मानते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में इस विवेक

निर्देश भी किया है। रसभङ्ग का एक ही कारण है और वह अनौचित्य प्रवृत्ति है। औचित्य का अनुसरण करने से रसयोजना सफल हो जाती है। विश्वनाथ ने अनौचित्य प्रवृत्ति का निरूपण करते हुए लिखा है—

अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः।

—(साहित्यदर्पणः ३।२६२)

किन्तु साथ ही साथ विश्वनाथ ने यह भी कहा है कि रसनात्मकता की दृष्टि से रसाभास और भावाभास सभी उपचारतः रस रूप हैं—

रसभावो तदभासो भावस्य प्रशमोदयो।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः॥

रसनधर्मयोगित्वाद्भावादिष्वपि रसत्वमुपचरादित्यभिप्रायः।

—(साहित्यदर्पण ३।२६०)

विश्वनाथ ने 'आभास' का वही अभिप्राय लिया है जो ध्वनिकार को मान्य है अर्थात् अनुकृति अथवा अमुख्यता। शुक्ति में रजत के 'आभास' की भाँति हास्य में शृङ्गार का 'आभास' स्वाभाविक है। विभावाद्याभास से रत्याद्याभास की अभिव्यक्ति और उसकी चर्वणाभास में विश्रान्ति जहाँ भी हो, रसाभास ही है।

रसाभास-भावाभास का कारण यह अनौचित्य विभावादि के बदले विभावाभास आदि के उपनिबन्ध से ही सम्बद्ध प्रतीत होता है। विश्वनाथ ने नायक-नायिकादि निरूपण तथा रसों के वर्ण-दैवतादिनिरूपण का यही अभिप्राय लिया है कि इनके अनुसरण से काव्य रचना होने पर 'विभावाद्याभास' से बचा जा सकता है। यह 'अनौचित्य' रसभङ्ग का कारण नहीं, अपितु 'रसाभास' का कारण है।

विश्वनाथ द्वारा निरूपित काव्य के भेद

प्रश्न १९ --आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के कितने भेद माने हैं ? उनका सोदाहरण स्वरूप निरूपण कीजिए।

अथवा

"काव्यभेद निरूपण में आचार्य विश्वनाथ मम्मट से स्पष्ट मतभेद रखते हैं।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—साहित्यदर्पणकार ने काव्य के केवल दो प्रमुख भेद माने हैं—
(१) ध्वनिकाव्य और (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य।

'चित्र' नामक काव्यप्रकार को विश्वनाथ इसलिए नहीं मानते क्योंकि प्रकार की रचना उनके काव्य लक्षण 'रसात्मक वाक्य' रूप काव्य की परि के भीतर नहीं आ सकती।' ध्वनिकाव्य का स्वरूप निरूपण करते हुए विश्व ने लिखा है—

वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ।।४।१

अर्थात् 'ध्वनिसंज्ञक काव्य' जिसे सर्वोत्तम काव्य-प्रकार कहा गया है, है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा, 'व्यंग्य' रूप अर्थ अधिक सुन्दर, अ चमत्कारजनक हुआ करता है। ध्वनिकाव्य में अर्थ अभिव्यङ्ग्य रूप में र है। वह अर्थ इतना सुन्दर एवं चमत्कारजनक प्रतीत होता है कि आ प्रतीत वाच्यार्थ उसके सामने फीका लगने लगता है। इसमें अर्थध्वनित है, जिसका सौन्दर्यवाच्यार्थ की पहुँच के परे रह जाता है, अतः इसे ध्वनि कहते हैं। यही काव्य का सर्वोत्कृष्ट प्रकार है।

ध्वनिकाव्य के दो भेदों का निरूपण इस प्रकार है—

भेदो ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ ।
अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च ।।४।२

अर्थात् ध्वनिकाव्य के भी दो भेद बताये गए हैं—

(१) लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य—इसे अविवक्षितावाच्य ध्वनिकाव्य कहते हैं।

(२) अभिधामूलक ध्वनिकाव्य—इसे विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनि भी कहते हैं।

जिस ध्वनिकाव्य में अविवक्षितवाच्य हुआ करता है, वह लक्षण कहलाता है। इस काव्य में ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ का लक्षणामूलक हो इसके अविवक्षित कहे जाने का कारण है, क्योंकि वाच्यार्थ के अविवक्षित का अभिप्राय उसके स्वरूप का बाधित होना ही है।

(३) विवक्षितान्यपरवाच्य नामक अभिधामूलक ध्वनि काव्य में वा विवक्षित रहा करता है और 'अन्य पर' अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ठ भी हुआ करता यहाँ वाच्यार्थ के 'विवक्षित' होने और अन्य पर (व्यंग्यनिष्ठ) होने का तात्पर्य है कि इस प्रकार के काव्य में वाच्यार्थ उसी प्रकार पहले अपने को प्रकाशित किया करता है और ऐसा करते हुए व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाश

करता है, जिस प्रकार कोई दीपक पहले स्वयं प्रकाशित हुआ करता है और तदुपरांत घटादि वस्तुओं का प्रकाशक बना करता है।

आचार्य विश्वनाथ ने अभिधामूलक ध्वनिकाव्य के विषय को लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य की अपेक्षा अधिक व्यापक माना है।

विवक्षित कहने का अभिप्राय है कि जो अर्थ श्रोता अथवा पाठक समझा करता है, वही अर्थ वक्ता अथवा कवि के भी मन में रह चुका है। कवि के मन का अर्थ बिम्ब है तो पाठक के मन में समाया वही अर्थ प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार—**वक्तुमिष्टं विवक्षिम्।**

वक्ता का अभीष्ट और श्रोता का बुद्धिस्थ वाक्यार्थ 'विवक्षित' अर्थ हुआ करता है। आलंकारिकों ने विवक्षित शब्द को 'अभिप्राय', 'तात्पर्य' आदि-आदि अर्थों में (पर्यायवाची अर्थ) व्यवहृत किया है। विवक्षित अर्थ को इसलिए तात्पर्य कहते है क्योंकि वक्ता अथवा कवि के प्रयुक्त वाक्य के समस्त पदार्थ एकमात्र उसी अर्थ के बोधक हुआ करते हैं। विवक्षित अर्थ प्रधान या उपकार्य होता है, अन्य समस्त पदार्थ उसके उपकारक होते हैं। वह प्रयोजन भी कहलाता है क्योंकि यही वह अर्थ है जिसके अवबोधन के लिए वक्ता अथवा कवि वाक्य-प्रयोग किया करते हैं। यह अभिप्राय इसलिए कहलाता है क्योंकि वाक्यवर्ती समस्त पदार्थ इसी अर्थ के अभिमुख रहा करते हैं। इसे फल भी कह सकते हैं क्योंकि यही वह अभीष्टार्थ-परिपाक है जिसका स्वाद वाक्यार्थ का अनुभव हुआ करता है। यथास्थान इसे भाव भी कहा करते हैं क्योंकि इसी अर्थ के रूप में वक्ता अथवा कवि की चित्तवृत्तियों में श्रोता अथवा सहृदय का हृदय संवाद हुआ करता है और आनन्द चमत्कार मिला करता है।

विश्वनाथ कविराज ने अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद बताए हैं—

(१) वह, जिसमें वाच्यार्थ अपने से भिन्न अर्थ में संक्रमित हो जाने के कारण 'अविवक्षित' (अपने स्वरूप में अनुपयुक्त) लगा करता है। इसे अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनिकाव्य कहते हैं।

(२) वह, जिसमें वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत रहने के कारण अविवक्षित (सर्वथा अनन्वित) हो जाया करता है। इसे अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनि काव्य कहते हैं।

(१) अर्थान्तर संक्रमितवाच्यध्वनि काव्य—यह कोई प्रबन्ध काव्य न हो काव्य प्रबन्धों में यत्रतत्र उपनिबद्ध वे सूक्तियाँ हैं जिनके प्रसन्न किंवा गम पद विदग्ध पाठकों को चमत्कृत किया करते हैं। इन सूक्तियों में रसावेश चमत्कार नहीं अपितु गुम्फन-वैचित्र्य और अन्तर्निगूढ़ विवक्षित अर्थ की प्र का चमत्कार हुआ करता है।

अविवक्षितवाच्य का अर्थान्तर संक्रमित होना उसके 'रूपान्तर परि होने के बराबर है। अर्थात् वह काव्य जिसमें ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ ऐसा जिसका व्यंजक अर्थ (वाच्य) अपने एक विशिष्ट स्वरूप लक्ष्य में परिणत हुआ करता है।

ध्वनिकाव्य के 'अर्थान्तर संक्रमितवाच्य' होने का अभिप्राय यहाँ व्यंग्यार्थ का अवस्थान है जिसका उपकरणभूत व्यंजक अर्थ एक ऐसा वा होता है जो प्रकरण की दृष्टि से सामान्य रूप में अनुपयुक्त हो जाता है अपनी अनुपपत्ति के निराकरण के लिए अपने से भिन्न एक ऐसे अर्थ में प हो जाया करता है, जोकि उसी का एक विशेष रूप अंश हुआ करता अर्थात् मुख्यार्थ अपने से भिन्न किन्तु अपने ही स्वरूप-विशेषभूत लक्ष्या परिणत हो जाता है। उदाहरण—

> कदली कदली, करभः करभः, करिराजकरः करिराजकरः।
> भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

अर्थ—कदली कदली, है, करभ करभ ही हैं, शुण्डादण्ड भी शुण्डाद हैं। इस त्रिभुवन में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो इस मृगनयनी के उरुयुग समानता रख सके।

यहाँ कदली, करभ, करिराजकर शब्द पुनरुक्त न होकर, सामान्य रू में अनुपपन्न होते हुए भी अपने ही विशेषस्वरूपभूत जाड्यादिविशिष्ट आदि रूप लक्ष्यार्थों का ही अवबोधन करा रहे हैं। यहाँ व्यंग्यार्थ यह उरुयुगल के उपमानों में जड़ता का आधिक्य है।

(२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि काव्य—इसमें मुख्यार्थ अपने स्वरू सर्वथा परित्याग करके अपने से भिन्न किसी अर्थ-स्वरूप में परिणत हो करता है। ध्वनिकाव्य की अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यता वहाँ के व्यंजक मुख्य सर्वथा अनुपपत्ति के कारण वस्तुतः तिरस्कृति एकमात्र लक्ष्यार्थ की उ पकता है। जैसे—

निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ।

'चाँद तनिक भी नहीं चमक रहा है। ऐसा लग रहा है, जैसे आकाश में श्वासोच्छ्वास से अन्धा (मलिन) एक दर्पण टँगा हो।'

यहाँ अन्ध पद दृष्टि विहीन रूप अर्थ में सर्वथा अनुपपन्न है और एकमात्र प्रकाशरहित (मलिन) अर्थ का ही अवबोधक बन रहा है। यहाँ जो व्यङ्ग्यरूप से विवक्षित अर्थ है वह अप्रकाशमानता (मलिनता) का आधिक्य है।

अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ का व्यंजक वाच्यार्थ 'लक्ष्यार्थ' के अवबोधन का उपायमात्र रह जाता है और लक्ष्यार्थ में ही अपना अस्तित्व खो बैठता है। जैसे चन्द्रमा को 'निःश्वासान्ध आदर्श (दर्पण)' कहने में उसकी असाधारण कान्तिहीनता, सर्वथा अनुपयोगिता आदि-आदि नानाविध अभिप्राय अभिव्यङ्ग्य हो उठते हैं। इसमें अन्ध शब्द का मुख्यार्थ अनुपपन्न (असंगत) ही नहीं, सर्वथा तिरस्कृत भी है।

(२) अभिधामूलक ध्वनिकाव्य

विवक्षितान्यवाच्य ध्वनि के भी दो भेद होते हैं—

(१) **असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि**—जिसमें व्यंग्यार्थ की अनुभूति के समय वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य रहते हुए भी प्रतीत नहीं हुआ करता।

(२) **संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि**—जिसमें वाच्यार्थ बोध और व्यंग्यार्थ चमत्कार की क्रमिकता का पता चल जाता है—

तत्राद्यो रस भावादिरेक एवात्र गण्यते।
एकोऽपि भेदोऽनन्तत्वात् संख्येयस्तस्यनैवयत् ।।४।५

अर्थात् विवक्षितान्यवाच्य ध्वनि का पहला प्रकार असंलक्ष्यक्रम ध्वनि तो रसभावादिरूप ध्वनि है और इसे एक प्रकार का ही माना जाया करता है, क्योंकि इसके यदि भेद किये जायँ तो एक-एक भेद में अनन्त भेद सम्भव हो जाते हैं जिनकी गणना असम्भव बन जाती है।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य नामक अभिधामूलक ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ ऐसा हुआ करता है जैसे तन्त्री का अनुरणन। इसके तीन प्रकार बताए गए हैं—

(१) शब्दशक्त्युद्भव—जहाँ व्यंग्यार्थ शब्द शक्ति से अनुरणित हुआ करता है।

(२) अर्थशक्त्युद्भव—जहाँ व्यंग्यार्थ अर्थशक्ति से अनुरणित हुआ करता है।

(३) शब्दार्थशक्त्युद्भव—जहाँ व्यंग्यार्थ शब्द और अर्थ दोनों की शक्तियों से अनुरणित हुआ करता है।

इस प्रकार अनुरणनरूप ध्वनि शब्दशक्ति, अर्थशक्ति और शब्द और अर्थ दोनों की शक्तियों से निकला करती है, जिससे इस प्रकार की ध्वनि से विभूषित काव्य के भी तीन प्रकार हुआ करते हैं।

शब्दशक्ति से उद्भूत ध्वनि वस्तु और अलंकार के भेद से दो प्रकार की होती है। अर्थशक्ति से उत्पन्न ध्वनि के बारह भेद माने गए हैं। किन्तु शब्द और अर्थ दोनों की शक्ति से उद्भूत काव्य का एक ही प्रकार माना गया है।

विश्वनाथ ने ५१ प्रकार का ध्वनिकाव्य माना है।

ध्वनि काव्य के दो भेद

(१) लक्षणामूल या अविवक्षितवाच्य ध्वनि काव्य

(२) अभिधामूल या विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि काव्य

लक्षणामूला ध्वनिकाव्य के दो भेद

(१) अर्थान्तरसंक्रमितरूप अविवक्षितावाच्य ध्वनि काव्य

(२) अत्यन्ततिरस्कृतरूप अविवक्षितवाच्य ध्वनि काव्य

अभिधामूला ध्वनिकाव्य के भेद

(१) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि काव्य

(२) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य " " " "

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनिकाव्य के भेद—

(१) शब्दशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि काव्य

(२) अर्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि काव्य

(३) शब्दार्थोभयशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि काव्य

शब्दशक्ति मूलसंलक्ष्यक्रम के दो भेद

(१) शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम वस्तुव्यंग्य ध्वनि काव्य

(२) शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम अलंकार व्यंग्य ध्वनि काव्य

अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम के तीन भेद

(१) स्वतः संभव्यर्थ शक्ति मूल संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि काव्य

(२) कविप्रौढोक्तिसिद्धार्थ शक्तिमूल " " "

(३) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थ शक्तिमूल " "

इन तीनों भेदों में भी प्रत्येक के चार-चार भेद होने से बारह भेद हो जाते हैं। उपर्युक्त १८ भेदों में शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव ध्वनि तो केवल 'वाक्य-गत' ही हुआ करती है किन्तु अन्य १७ ध्वनि प्रकार पदगत और वाक्यगत दोनों हुआ करते हैं। अब यदि पूर्व प्रतिपादित १८ ध्वनि भेदों के अवान्तर भेदों का परिगणन किया जाय तो सब मिलाकर ३५ भेद सिद्ध होंगे। जिनमें अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के 'प्रबन्धगत' १२ भेद और असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के पदांशगत, वर्णगत, रचनागत और प्रबन्धगत भेद चतुष्ट्य को जोड़ देने से सब मिलकर ५१ भेद हो जाते हैं। उनके भी साङ्कर्य, एकविध संसृष्टि के कारण प्रत्येक के परस्पर मेल के आधार पर भेद-प्रभेद गुणा से ध्वनि-भेद-संख्या ५३०४ और संमिश्र ध्वनि भेद संख्या में ५१ प्रकार के शुद्ध ध्वनि भेदों को जोड़ देने पर जो समस्त ध्वनि भेद संख्या होगी वह ५३५५ हो जायगी। मम्मट ने ध्वनि भेद की संख्या १०४०४ मानी है।

विश्वनाथ मम्मट के आलोचक रहे हैं, किन्तु वे भेद-प्रभेद की परम्परा की धारा का परिवर्तन चाहते हुए भी नहीं कर पाये।

(३) **गुणीभूतव्यंग्य काव्य**

आचार्य विश्वनाथ ने काव्य का प्रथम भेद ध्वनि काव्य माना है, जिसके उपर्युक्त ५३५५ भेद हैं। दूसरा काव्य गुणीभूतव्यंग्य या मध्यम काव्य है।—

अपरं तु गुणीभूतव्यंग्य वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये।

अर्थात् 'गुणीभूतव्यंग्य काव्य में प्रतीत होने वाला व्यङ्ग्यार्थ अपने व्यंजक रूप से अवस्थित वाच्यार्थ की अपेक्षा 'अनुत्तम' अथवा गुणीभूत (अप्रधान) लगा करता है। 'अपरम्' से तात्पर्य ध्वनि काव्य से भिन्न प्रकार का काव्य है और वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य के अनुतमत्व की संभावना का अभिप्राय न्यूनता अथवा समता के कारण अधिक चमत्काराधायक न हो सकता है। इसमें वाच्य-सौन्दर्य अधिक प्रबल होता है। गुणीभूत व्यंग्य का वास्तविक अभिप्राय व्यंग्यार्थ के सम्बन्ध से विशेष रमणीय वाच्यसौन्दर्यमय काव्यबन्ध से है। इसमें व्यंग्य सौन्दर्य के आकर्षण की अपेक्षा वाच्य-सौन्दर्य का आकर्षण अधिक प्रबल होता है।

गुणीभूतव्यंग्य काव्य के आठ भेद

(१) इतराङ्ग (२) काक्वाक्षिप्त (३) वाच्यसिद्ध्यङ्ग (४) सन्दिग्धप्राधान्य

(५) तुल्यप्रधान (६) अस्फुट (७) अगूढ और (८) असुन्दर। इन आठ रूपों में गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य अनुत्तम रूप से अवस्थित रहा करता है।

आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य की उपर्युक्त अष्टविध सम्भावनाओं के अतिरिक्त अन्य भी सम्भावनायें हैं, जैसे कि दीपक, तुल्ययोगिता आदि-आदि अलंकारों में उपमानोपमेयभाव का जो व्यङ्ग्यार्थ है वह गुणीभूत-व्यङ्ग्यार्थ ही है क्योंकि दीपकादि अलंकार-काव्यों में जो भी चमत्कार है, वह वहाँ के अभिव्यंग्य औपम्य के कारण न होकर दीपकादिरूप वाच्यविच्छित्ति के कारण प्रतीत हुआ करता है। गुणीभूतव्यंग्य काव्य की दूसरी सम्भावना वह है, जिसे किसी व्यङ्ग्यार्थ की निगूढ़ता के चमत्कार का, किसी वाचकपद के प्रयोग द्वारा विपर्यास (गूढ व्यंग्य को अगूढ बना देना) कहा करते हैं। किन्तु कविराज ने इन सम्भावनाओं के आधार पर गुणीभूतव्यंग्य काव्य का कोई प्रकार-भेद निर्दिष्ट नहीं किया है। इन सम्भावनाओं की दृष्टि से विश्वनाथ कविराज काव्यप्रकाशकार मम्मट से विशिष्ट हैं क्योंकि मम्मट ने गुणीभूतव्यंग्य के केवल आठ भेदों का ही निरूपण किया है।

वस्तुतः गुणीभूतव्यग्य और ध्वनि के क्षेत्र परस्पर संकीर्ण हैं। इनका रेखा विभाजन सरल नहीं। केवल 'चारुत्व प्रतीति' की डोर से एक को दूसरे से यथास्थान पृथक् किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट द्वारा निरूपित चित्र नामक अवर (अधम) संज्ञक काव्य की सत्ता नहीं मानी है। मम्मट ने इसे अव्यंग्य प्रतीत हुआ शब्द और अर्थचित्रणरूप में दिखायी पड़ने वाला माना है किन्तु विश्वनाथ इस चित्रकाव्यवाद को युक्तियुक्त नहीं मानते क्योंकि अव्यंग्य होने से उसमें व्यंग्य का अभाव हो जाता है और तब ऐसा शब्दार्थयुगल काव्य नहीं हो सकता। व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य ध्वनिकाव्य में और अप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में है। तीसरी काव्य की कोई स्थिति नहीं है। इन दो प्रकारों के अतिरिक्त जो शब्दार्थ योजना है, जिसमें व्यङ्ग्य के प्राधान्य अथवा अप्राधान्य की कोई सम्भावना नहीं, अपितु शब्द अथवा अर्थ का चित्रणमात्र दिखायी दिया करता है, वह चित्र है, काव्य नहीं—

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
उभे काव्ये ततोऽन्यद्यतच्चित्रमभिधीयते॥

—ध्वनिकार आनन्दवर्धन

ध्वनिकार ने व्यङ्ग्यशून्य शब्दार्थयुगल को 'चित्र' कहा है। 'चित्र रूप होने का अभिप्राय इनका रसभावादि तात्पर्य रहित होगा अथवा व्यङ्ग्यार्थ विशेषप्रकाश 'शक्तिशून्य' होना है—

मम्मट ने भी चित्रकाव्य को अवरकाव्य कहा है—

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् । १/५

मम्मट ने शब्द चित्र और अर्थ चित्र को चित्रकाव्य कहने में उपचार का आश्रय लिया है। ये काव्याभासभूत हैं। काव्यानुकृतिरूप शब्दार्थ योजना आपाततः सगुण और सालंकार भले ही लगे किन्तु अन्त में तो निश्चित यह है कि वह 'रसात्मक' कदापि नहीं लगेगी। इसीलिए 'रसात्मक वाक्य को काव्य' मानने वाले आचार्य विश्वनाथ उसे काव्य का प्रकार नहीं मानते। इस प्रकार विश्वनाथ ने मम्मट की अवरकाव्य (चित्र काव्य) की मान्यता का खण्डन ध्वनिकार की उपर्युक्त उक्ति का आधार लेकर किया है। यद्यपि साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद में ही विश्वनाथ ने नीरस वाक्य कदम्बों को 'चित्र' रूप में देखा है, और इन्हें उपचारतः 'काव्य' भी कहा है। किन्तु काव्यप्रकाशकार की आलोचना के आवेश में वे अपने ही कथन को भूल गए हैं। उन्हें चित्र काव्य की सी वस्तु का काव्य-साहित्य के क्षेत्र में आभास तो जहाँ-तहाँ अवश्य हो रहा है, किन्तु काव्यप्रकाशकार के सिद्धान्त के खण्डन के आवेग में उन्हें 'चित्र काव्य' नाम खटकता है। वे 'चित्रकाव्य' पद को अनुचित मानते हुए भी गौण-काव्यपद को उचित मानते हैं। डा० सत्यव्रतसिंह का मत है, कि "ध्वनिदर्शन की मान्यता के रहते 'चित्रकाव्य' की 'मान्यता अनुषङ्गतः आवश्यक हो जाती है। काव्यप्रकाशकार की यही दृष्टि थी। साहित्यदर्पणकार ने इसे क्यों नहीं अपनाया ? इसका एक ही कारण प्रतीत होता है और वह है काव्यप्रकाशकार की आलोचना का आवेश।" विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में कविकृतियों में एक प्रकार की कविकृति को 'चित्रकाव्य' मानना अक्षम्य है, क्योंकि उनके अनुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य हो सकता है, नीरस नहीं।

विश्वनाथ द्वारा निरूपित व्यंजनावृत्ति

प्रश्न २०—व्यंजनावृत्ति के स्वरूप-विवेचन में साहित्यदर्पणकार का योगदान निरूपित कीजिए।

अथवा

विश्वनाथ द्वारा निरूपित व्यंजनावृत्ति और रसनावृत्ति की स्वरूप मीमांसा कीजिए और उस पर मम्मट के 'व्यंजना प्रस्थापन' प्रकरण का प्रभाव निरूपित कीजिए।

उत्तर—कविराज विश्वनाथ ने व्यंजना वृत्ति का स्वरूप-निर्देश पंचम परिच्छेद में किया है। उन्होंने लिखा है—

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम्।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ॥५।१

अर्थात् रसभावादि की अनुभूति के विश्लेषण के लिये यह मानना अत्यावश्यक है कि व्यंजना नाम की एक नयी वृत्ति है, क्योंकि रसभावादि की अनुभूति ऐसी है, जहाँ क्या अभिधा, क्या तात्पर्याख्या और क्या लक्षणा सभी वृत्तियाँ विरतव्यापार (असमर्थ) रहा करती हैं।

डा० सत्यव्रतसिंह ने उपर्युक्त कारिका के विमर्श में लिखा है कि 'रसास्वाद और रसचर्वणा का अटूट सम्बन्ध है' और 'चर्वणा' तथा 'अभिव्यंजना' एक ही वस्तु है—

चर्वणा चाऽत्राभिव्यंजनमेव, न तु ज्ञापनम् प्रमाणव्यापारवत्,
नाद्युत्पादनम्, हेतुव्यापारवत्—ध्वन्यालोकलोचन १म उद्योत।

विश्वनाथ कविराज ने यहाँ जो रस के लिये व्यंजना की अनिवार्य मान्यता पर जोर दिया है, उसका अभिप्राय यही है, कि 'रस' रूप काव्य परमार्थ में न तो 'अभिधा' का हाथ हो सकता है, और न लक्षणा का और न 'तात्पर्यवृत्ति' का ही, क्योंकि विभावादि का साधारणीकरण अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यवृत्ति के सामर्थ्य के परे की बात है। 'रसना' रूप प्रतीति के अभ्युदय में व्यंजनात्मक ध्वनन व्यापार ही समर्थ है, क्योंकि इसीसे सामाजिक का हृदय कवि समर्पित विषयों में तन्मय हुआ करता है, जिससे रसानुभव में पड़ सकने वाली विघ्न-बाधायें दूर हो जाती हैं, और 'रस' रूप काव्यार्थ का साक्षात्कार सम्भव हो जाता है।

व्यंजनाशक्ति कविता अथवा वस्तुतः कला सरस्वती की शक्ति है और इसी शक्ति में वह सामर्थ्य है जो महाकवियों की महिमा का प्रकाशन किया करती है—

'सरस्वती स्वादु तदर्थ वस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
आलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।'
(आनन्दवर्धनाचार्य)

विश्वनाथ ने व्यङ्ग्यार्थाविबोध में अभिधा का असामर्थ्य बताते हुए लिखा है, कि 'अभिधा का सामर्थ्य संकेतित अर्थ के अवबोध में ही क्षीण हो जाया करता है। वस्तु-अलंकार किंवा रसभावादिरूप अभिव्यङ्ग्य अर्थ कुछ इस प्रकार के अर्थ हैं जिन्हें शब्दों का संकेतित अर्थ कहना कदापि सम्भव नहीं क्योंकि यह वाच्यार्थ रूप नहीं है। विभादिरूप वाच्यार्थ और रसभावादिरूप अभिप्राय परस्पर भिन्नरूप रहा करते हैं, अतः रसभावादिवाचक पदों के द्वारा (रति, शृंगार आदि पदों के द्वारा) रसभावादि का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। ऐसा करने पर तो स्ववाच्यत्व दोष हो जावेगा। रसभाव तो स्वप्रकाशानन्दरूप काव्य-रहस्य है। इसे 'यह शृंगार रस है' आदि पदों के प्रयोग से प्रतिपादित नहीं कर सकते। अभिहितान्ययवादी आलंकारिकों द्वारा मान्य तात्पर्यवृत्ति भी व्यङ्ग्यार्थ के अवबोधन में असमर्थ ही रहा करती है क्योंकि उसका व्यापार एकमात्र 'संसर्ग' अथवा वाक्यघटक पदों के परस्पर सम्बन्ध में ही समाप्त हो जाता है। तात्पर्य वृत्ति का व्यापार तो पदार्थों के परस्परान्वयमात्र में समाप्त हो जाता है, और व्यङ्ग्यार्थ परस्परान्वित अर्थ से सर्वथा विलक्षण अर्थ प्रकार होता है। जबकि तात्पर्यशक्ति के बाद भी लक्षणा का मानना अनिवार्य हो जाता है, तब तात्पर्यशक्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थाविबोध की बात असंगत ही कही जावेगी।

साहित्यदर्पणकार के अभिधा के दीर्घदीर्घतर व्यापार में भी व्यंजना का अन्तर्भाव असंभाव्य है। अभिधा का दीर्घदीर्घतर व्यापारवाद अन्विताभिधान-वादी मीमांसकों के अनुयायी आलंकारिकों का वाद है। यदि इसे मान लिया जावे तो पहला प्रश्न तो यह उठता है, कि यह दीर्घदीर्घतर व्यापार एकरूप का हुआ करता है, या भिन्न रूप का। इसे एक रूप नहीं मान सकते क्योंकि इसके वाच्य रूप विषय से तात्पर्य रूप विषय भिन्न प्रतीत होता है और साथ ही साथ लक्ष्यरूप और व्यङ्ग्यरूप विषय तो भिन्न-भिन्न हैं हीं। अब इस दीर्घ-दीर्घतर व्यापार को भिन्नरूप मानना भी उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि तब इस व्यापार में विषय भेद और सहकारिभेद से एकजातीयता न रह पायेगी और यह भिन्न जातीय बन जायगा। भिन्न जातीय दीर्घदीर्घतर व्यापार तो

व्यंजनावाद के मानने में ही संगत हो पाता है, न कि अभिधा दैर्घ्यवाद के मानने में। अभिधा के दीर्घ व्यापार का अभिप्राय चतुर्थ कक्षा के व्यङ्ग्यार्थ का अविलम्ब अवबोध मानना तो उपहासास्पद है। क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ को संकेतित अर्थ नहीं माना गया।

विश्वनाथ कविराज ने दशरूपककार सम्मत तात्पर्यवृत्ति में भी व्पंजना का अन्तर्भाव असम्भव बताया है, क्योंकि वह रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ के प्रत्यायन में असमर्थ है। आचार्य धनिक ने 'काव्य' और 'रस' में व्यङ्ग्य व्यंजकभाव का सम्बन्ध न मानकर भाव्य भावक भाव का सम्बन्ध माना था, और 'भावना' को काव्य-शब्दों की अतिरिक्त शक्ति न मानकर 'तात्पर्य' वृत्ति द्वारा ही रसरूप काव्यवाक्यार्थ की प्रतीति का सिद्धान्त अपनाया था। किन्तु साधारण वाक्यों में क्रिया का परमार्थ और काव्यवाक्यों में रस का परमार्थ दोनों परस्पर ऐसे विलक्षण हैं कि एक को यदि तात्पर्य कहा गया तो दूसरे को 'व्यङ्ग्य' कहना ही उचित प्रतीत होता है। रस यदि 'व्यङ्ग्य' कहा गया तो 'व्यंजनावृत्ति' की मान्यता अनिवार्य हो गयी।

जैसे अभिधा और तात्पर्यवृत्ति में व्यंजना का अन्तर्भाव असम्भव है, वैसे ही लक्षणा में भी यह अन्तर्भाव युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि 'गंगायां घोषः' आदि लाक्षणिक प्रसंगों में जो शैत्य और पावनत्व आदि रूप व्यंग्यार्थ प्रतीत हुआ करता है, उसे लक्षणा द्वारा प्रतीत मानना असम्भव है। यहाँ लक्षणा 'तट' रूप अर्थ के अवबोध में ही विरतव्यापार हो जाती है, तब इससे इस अर्थ से सर्वथा विलक्षण, शैत्य पावनत्वादिरूप अर्थ का अवबोध कैसे हो सकता है। 'गंगायां घोषः' आदि प्रसंगों में अर्थावबोध के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि यहाँ लक्षणा का विषय कुछ है और व्यञ्जना का कुछ। लक्षणा का विषय तट है, और व्यञ्जना का है शैत्यपावनत्व।' लक्षणाशक्ति तो 'गंगा' पद के अमुख्य अर्थ के उपस्थापन में समर्थ है और व्यंजना द्वारा 'शैत्यपावनत्व' आदि वक्तृ हृदयगत प्रयोजन का प्रत्यायन हुआ करता है। लक्षणा मुख्यार्थ के बाध में जन्म लेती है। गंगा शब्द में लक्षणा द्वारा शैत्यपावनत्वादि की प्रतिपत्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि इसके प्रत्यायन में गंगा शब्द बाधित नहीं हुआ करता। इसलिए अबाधित शैत्यपावनत्वादिरूप प्रयोजन भूत अर्थ कीं प्रतिपत्ति में लक्षणा की क्या सम्भावना ?

विश्वनाथ कविराज ने व्यञ्जनावृत्ति की सिद्धि में ध्वन्यालोक, ध्वन्यालोक

लोचन और काव्यप्रकाश की व्यञ्जना सिद्धि विषयक युक्तियों का बहुत ही युक्तियुक्त वर्गीकरण किया है। वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के मौलिक भेदों में व्यञ्जना की मान्यता का बीज छिपा हुआ है। साहित्यदर्पण की निम्नलिखित कारिका में संक्षेप में व्यञ्जना-प्रस्थापन का बड़ा सुन्दर विचारसूत्र है—

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।
आश्रयविषयादीनां भेदादभिन्नोऽभिधेयतोव्यंग्यः ।।५।२

व्यञ्जना को तुरीयावृत्ति मानना इसलिये भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि वाच्य और व्यंग्य अर्थों के निम्न भेदों का अपलाप कदापि सम्भव नहीं। वाच्य और व्यंग्य के जो पारस्परिक भेद हैं, वे ये हैं—

(१) बोद्धृभेद (२) स्वरूपभेद (३) संख्याभेद (४) निमित्तभेद (५) कार्य-भेद (६) प्रतीतिभेद (७) कालभेद (८) आश्रयभेद (९) विषय भेद और (१०) अन्यान्य निमित्तक भेद।

(१) वाच्यार्थ के बोद्धा लोग केवल पदपदार्थ में निपुण वैयाकरण होते हैं तो व्यंग्यार्थ के काव्य भावना निपुण सहृदय। काव्य के पाठक उसके वाच्यार्थ से परिचित होते हैं तो सहृदय काव्य रसिक उसके व्यंग्यार्थ समझने में निपुण हुआ करते हैं।

(२) वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद उनके स्वरूप-भेद से भी सिद्ध है। जैसे रमणी का लावण्य उसके अलंकृत अथवा अनलंकृत अंग प्रत्यंग से सर्वथा भिन्न एक सहृदयलोचनामृत तत्त्व हुआ करता है, वैसे ही कविता का व्यंग्यार्थ उसके वाच्यवाचक प्रपंच और उसके चारुत्व से भी भिन्न एक सहृदयसंवेद्य अर्थतत्त्व है। वाच्य और व्यंग्य में ऐक्य न होने से अभिधा और व्यंजना में भी अभेद नहीं माना जा सकता है।

(३) वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का इयत्ता भेद भी सिद्ध है, वाच्यरूप अर्थ एकविध या एकसंख्यक होता है, तो व्यंग्यरूप अर्थ अनेकविध या अनेक-संख्यक हो जाया करता है। जैसे 'गतोऽस्तमर्कः' का वाच्यार्थ 'सूर्य अस्त हो गया है' किन्तु व्यंग्यार्थ प्रसंगों के अनुरूप 'प्रेम मिलन की तैयारी कर' 'चरती-गायों को इकटठा कर' आदि हो जाता है। वाच्यार्थ संकेतित होने से नियतस्वरूप होता है, किन्तु व्यंग्यार्थ असंकेतित होने से प्रकरणादि से प्रतीत होने के कारण अनियतस्वरूप है।

(४) निमित्त भेद—वाच्यार्थ का बोध शब्द ज्ञान से सम्भव है तो व्यङ्ग्यार्थ का एक विशिष्ट प्रतिभानैर्मल्य से ।

(५) कार्य भेद—वाच्यार्थ का कार्य बोध मात्र है, व्यङ्ग्यार्थ का आनन्द चमत्कार है ।

(६) प्रतीति भेद—वाच्यार्थ प्रतीति शाब्दबोध रूप होती है और व्यंग्यार्थ प्रतीति शाब्दबोधरूप होने के साथ ही साथ चमत्कारमय लगती है ।

(७) कालभेद—वाच्यार्थ का बोध सदैव पहले होता है और व्यंग्यार्थ का बोध सदैव बाद में होता है ।

(८) आश्रय भेद—वाच्यार्थ का आश्रय तो केवल शब्द है और व्यंग्यार्थ के आश्रय हैं शब्द, शब्दैकदेश, शब्दार्थ, वर्ण और संघटना ।

(९) विषय भेद—वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में विषय भेद से भी परस्पर भिन्नता होती है । विश्वनाथ ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमें वाच्यार्थ का विषय यदि 'संबोध्य नायिका है तो व्यंग्यार्थ का विषय है नायक । वाच्यार्थ है, वह व्यंग्यार्थ नहीं । ध्वन्यालोकलोचनकार ने विषय भेद के उदाहरण देते हुए इस भेद का विशद निरूपण किया है ।

विश्वनाथ रसानुभव के लिए व्यञ्जना को अनिवार्य मानते हैं—

प्रागसत्वाद्रसादेर्नो बोधिके लक्षणाभिधे ।
किञ्च मुख्यार्थबाधस्य विरहादपि लक्षणा ॥५।३

अर्थात् अभिधा और लक्षणा से रसोद्‌बोध हो नहीं सकता क्योंकि दोनों प्रत्यक्षादि अनुभव के पूर्व सिद्ध वस्तुओं का ज्ञान कराया करती हैं, जब कि रसरूप वस्तु ऐसी है जो अनुभव के पहले रहा ही नहीं करती । लक्षणा द्वारा रसानुभव की असंभावना का एक कारण उसमें मुख्यार्थ बाधादि का सद्‌भाव है, जबकि रसरूप काव्यार्थ में मुख्यार्थबाधादि की सम्भावना नहीं उठ सकती । रस प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध पदार्थ नहीं है । रसादि रूप वाच्यवाचक अथवा लक्ष्यलक्षक भावरूप सम्बन्ध से सम्बद्ध नहीं रहते । तो ऐसा है जो 'रसना' अथवा चर्वणा रूप व्यापार से सर्वथा अभिन्न करता है । साथ ही साथ लक्षणा शक्ति इसलिये भी रसबोधिका नहीं इसका संचरण तो 'गंगायां घोषः' (गंगा पर कुटी) आदि ऐसे प्रयोगों में करता है, जहाँ प्रयुक्त शब्दों के अर्थों का अन्वयबोध निष्पन्न होने के ही अनुपपत्ति के कारण, बाधित हो जाया करता है ।

रस में लक्षणा की कोई गति नहीं, इसका निर्णय मम्मट ने काव्यप्रकाश (२।१४—१७) के लक्षणा विचार से ही सिद्ध है। साहित्यदर्पणकार ने रस के अनभिधेय और अलक्ष्य होने में जो युक्ति दी है, वह सर्वथा युक्तियुक्त है। अभिधेय और लक्षणीय पदार्थ वे हैं जो हमारे अनुभव के पहले से ही अपना अस्तित्व रखते हैं। रस तो 'रस्यमानतामात्र सार' पदार्थ है, वह भला वाच्य अथवा लक्ष्य कैसे बन सकता है। वह तो एकमात्र आस्वाद्यमानताप्राण अर्थ है। इस आस्वाद्यमानतासार रस—भावादि की अनुभूति में व्यञ्जना के अतिरिक्त और किसी भी व्यापार की सम्भावना नहीं हो सकती।

निष्कर्ष रूप में विश्वनाथ ने लिखा है कि व्यञ्जना वृत्ति की मान्यता अनिवार्य है। क्योंकि—

(१) स्वसंवेदन सिद्ध रसभावादि रूप काव्य-व्यङ्ग्य अर्थों का अपलाप असम्भव है।

(२) रसभावादि रूप अभिव्यङ्ग्य अर्थों के अभिव्यञ्जन के लिये ही कविजन विशिष्ट शब्दार्थ योजना करते हैं। अनुमानादि प्रमाणों की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं।

(३) रसभावादि रूप व्यंग्यार्थ में अभिधा, तात्पर्याख्या और लक्षणा की शक्तियों का व्यापार कुण्ठित रहा करता है, जिससे इनके अतिरिक्त यहाँ एक चौथी शक्ति की मान्यता अनिवार्य हो जाती है। यह चौथी वृत्ति ध्वनि दार्शनिक काव्य-मर्मज्ञ त्रिविध व्यंग्यार्थ की दृष्टि से व्यञ्जना नाम से तथा अन्य काव्य-तत्त्वदर्शी रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से रसना नाम से पुकारते रहे हैं।

अभिनय अवस्थानुकार है

प्रश्न २१—आचार्य विश्वनाथ ने अभिनय को 'अवस्थानुकार' कहा है। उनके अभिप्राय की स्पष्ट विवेचना कीजिए।

उत्तर—काव्य के दो भेद हैं—दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य। दृश्य काव्य अभिनेय होता है। इस दृश्य काव्य का एक और नाम 'रूपक' है। दृश्य काव्य इसलिए रूपक कहा जाया करता है, क्योंकि इसके प्रदर्शक (नट) इसमें चित्रित चरितों के 'रूप' का अपने में 'आरोप' अर्थात् अनुसन्धान किये दिखायी दिया करते हैं। तात्पर्य यह है, कि चाक्षुष-प्रत्यक्ष के कारण जो 'रसात्मक वाक्य' रूप काव्य दृश्य कहा जा सकता है, वही उसके अभिनेता में, अभिनेय रामादि

चरित्रों के 'रूप' के 'आरोप' अथवा 'अनुसन्धान' के कारण 'रूपक' भी क[...] जाया करता है।

साहित्यदर्पणकार ने 'दृश्य' और 'रूपक' शब्दों को एकार्थवाचक भी मा[...] है, और परस्पर प्रवृत्ति निमित्तिक भेद से भिन्नार्थक भी स्वीकार किया है[...] सामाजिक की दृष्टि से जो कविकृति 'दृश्य' अथवा 'रूप' हुआ करती है, व[...] अभिनेता की दृष्टि से 'अभिनेय' अथवा नाट्य है। रचनाकार कवि की दृ[...] से इसी को 'रूपक' कहा करते हैं, क्योंकि जैसे कवि 'मुख' पर चन्द्र के अभे[...] रोप में स्वतन्त्र है, वैसे ही 'नट' पर रामादि की अवस्थाओं के अभेदारोप[...] कहा भी गया है—

तदीदृशरसाधारं नाट्यं रूपकमित्यपि।
नटस्याति प्रवीणस्य कर्मत्वान्नाट्यमुच्यते।
यथा मुखादौ पद्मादेरारोपे रूपकप्रथा।
तथैव नायकरोपो नटे रूपकमुच्यते॥

(रसार्णवसुधाकर, तृतीय विला[...]

साहित्यदर्पणकार ने दशरूपककार के अनुकरण में 'रूप' शब्द का प्रयोग[...] कर 'दृश्य' शब्द का प्रयोग किया है, जिसमें सामाजिक की दृष्टि के साथ-स[...] आलंकारिक की भी दृष्टि से श्रव्य काव्य भिन्न कविकृति का स्वरूप-नि[...] स्पष्टतया किया जा सके।

अभिनय—दृश्य काव्य अभिनय के द्वारा प्रदर्शित हुआ करता है। 'अभि[...]नय' का अभिप्राय साहित्यदर्पणकार के अनुसार इस प्रकार है—

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः।
आंगिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा ॥६।२

अर्थात् 'अभिनय का अभिप्राय है, अभिनेता द्वारा, अभिनेय चरितो[...] अवस्थाओं—शरीर-वाणी-मन किंवा समस्त व्यक्तित्व की विशेषताओं के अनु[...] अथवा अनुकरण का। यह अवस्थानुकरण चार प्रकार का हुआ करता है—

(१) आङ्गिक—अंग द्वारा सम्पादित।
(२) वाचिक—वाणी द्वारा सम्पादित।
(३) आहार्य—वेश-भूषा द्वारा सम्पादित।
(४) सात्त्विक—मनोभावों के आविष्करण द्वारा सम्पादित।

तात्पर्य यह है कि जिसे 'अभिनय' कहा करते हैं, वह नट द्वारा, अपने अंग वाणी आदि के विविध व्यापारों की सहायता से सम्पादित राम, युधिष्ठिर आदि की अवस्थाओं का 'अनुकरण' हुआ करता है।

विश्वनाथ कविराज ने अभिनय का व्यावहारिक अर्थ 'अवस्थानुकार' किया है। इसका पारमार्थिक अर्थ 'अनुव्यवसायात्मक' भी है। नाट्यदर्पणकार इसे पारमार्थिक अर्थ में अनुव्यवसायात्मक मानता है। उसके अनुसार 'अभिनय' की यह व्युत्पत्ति है—

सामाजिकानामाभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते,
प्राप्यतेऽर्थोऽनेनेत्यभिनयाः।

अर्थात् 'अभिनय वह है जिसके द्वारा सामाजिक रामादि का साक्षात्कारात्मक अनुभव किया करते हैं।' अभिनय को नाट्यदर्पणकार ने अनुकरण मात्र न मानकर अनुव्यवसायात्मक माना है। नाट्यदर्पण के अनुसार—

अभिनय के चार भेद हैं—(१) वाचिक, अर्थात् वह जिसे रामादि के उन-उन भाव विकारों से सम्बद्ध वाग् व्यवहार का नट के वाग्व्यवहार द्वारा साक्षात्कार कहा गया है।

(२) आंगिक अर्थात् वह जिसे रामादि के विविध भावगर्भ अंग और उपांग के व्यापारों का नट के अंग और उपांग के व्यापारों द्वारा साक्षात् दर्शन माना गया है।

(३) सात्त्विक, अर्थात् वह जो कि रामादि के विविध सत्त्व (मनोदशा) का नट के तदनुरूप सत्त्व (मनोदशा) द्वारा साक्षात्कार कहा जाया करता है।

(४) आहार्य अथवा वह जिसे रामादि के जीवन से सम्बद्ध विविध बाह्य पदार्थों का नट, द्वारा प्रदर्शित तदनुरूप बाह्यपदार्थों द्वारा साक्षात् दर्शन माना गया है।

साहित्यदर्पणकार ने अभिनय को 'अवस्थानुकार' माना है। अवस्थानुकार का अभिप्राय रामादि के साथ नट की तादात्म्यापत्ति है, जिसका साधन अंग, वाणी, वेश और सत्त्व का अभिनय चतुष्टय है, जो नट की कला है। इस अभिनय चतुष्टय का वर्णन भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में विशद रूप से किया है, अंगिक अभिनय में नट अपने सिर हाथ, उरः स्थल, पार्श्व, कटि और पैर इन छह अंगों तथा नेत्र, भृकुटि, नासिका, अधर, कपोल और चिबुक—इन छह

उपांगों द्वारा रामादि के साथ 'तादात्म्य' अथवा 'अभेद' का अनुसन्धान किया करता है—

शाखाङ्गोपांगसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः ।

वाचिक अभिनय का तात्पर्य 'संगीत चूड़ामणि' के अनुसार वह अभिनय है जिसमें नट, रसोचित राग-लय आदि से समन्वित 'वाणी' द्वारा रामादि के साथ तादात्म्यारोप से, सहृदय-हृदय में विभादि की अभिव्यंजना किया करता है—

रामानुषंगि यद् वाक्यं नाट्ये तद् वाचिकं स्मृतम् ।

आहार्याभिनय वह अभिनय है, जिसमें नट, वेशभूषा के द्वारा रामादि के साथ, अपने तादात्म्यारोप को सामाजिकों पर अभिव्यक्त किया करता है—

आहार्याभिनयो नाट्योचितालङ्कार धारणम् ।

सात्त्विक अभिनय का निरूपण करते हुए भरतमुनि ने 'सत्त्व' के स्वरूप का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। 'सत्त्व' वह है, जिसके देखते 'सात्त्विक' अभिनय में स्तम्भ, स्वेद आदि के प्रदर्शन के द्वारा नट में रामादि के तादात्म्यारोप की सम्पन्नता का अभिप्राय लिया जाता है।

निष्कर्ष—विश्वनाथ ने अभिनय को नट की कला माना है। अतएव उन्होंने 'अभिनय चतुष्ट्य' का संकेतमात्र किया है। अभिनय का तात्पर्य अवस्थानुकार है। अभिनय रूपक अथवा दृश्यकाव्य के विभावादि के 'अभिनयन' अथवा 'अभिव्यंजन' में समर्थ अभिनेता की कला है, रामादि के साथ नट की 'तादात्म्यापत्ति' है, नट की कला है। नाट्य रूप वस्तु दृश्य है, अभिनेय है, रूपक है। वह भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखी गयी एक ही वस्तु है। नाट्य रूप वस्तु का अभिनय के बिना अस्तित्व सम्भव नहीं है और यह अभिनय विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में अवस्थानुकार या अवस्था का अनुकरण हैं, जो चतुर्विध होता है।

प्रश्न २२—साहित्यदर्पण में निरूपित 'नाटक' के लक्षण का विवेचन कीजिए।

अथवा

'नाटक' के स्वरूप निरूपण में विश्वनाथ कविराज ने क्या नवीनता प्रस्तुत की है? विवेचन कीजिए।

उत्तर—विश्वनाथ कविराज ने रूपक के दस प्रकारों में प्रथम 'नाटक' नामक रूपक-प्रकार का विस्तार से स्वरूप निरूपण किया है। साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में नाटक का स्वरूप निरूपण इस प्रकार किया गया है—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसंधि समन्वितम्।
विलासर्द्ध्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥६।७
सुख-दुःख समुद्भूति नानारसनिन्तरम्।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्त्तिताः ॥६।८

भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन तत्त्व बताए हैं—वस्तु, नेता और रस। नाटक की वस्तु का निरूपण विश्वनाथ ने उपर्युक्त श्लोकों में किया है। नाटक नामक रूपक वह दृश्यकाव्य है जिसकी शरीर-रचना किसी प्रसिद्ध वृत्त से की जाया करती है। नाटक के इस इतिवृत्तात्मक शरीर में पाँच संधियाँ हुआ करती हैं। उन-उन चरितों के उदात्त गुणों और अभ्युदयों के उपनिबन्धन के कारण यह भी उदात्त और श्री-समृद्ध हुआ करता है। इसके उद्भव का कारण मानव का सुख-दुःखात्मक जीवन है। इसमें भिन्न-भिन्न रसों और भावों का अनुभव हुआ करता है। इसकी रचना कम से कम पाँच और अधिक से अधिक दस अङ्कों में पूर्ण हुआ करती है।

'नेता' के सम्बन्ध में साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—

प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥६।९

'नाटक' का 'नायक' किसी प्रसिद्ध राजवंश का कोई राजर्षि हो सकता है। इसके नायक के लिए धीर और उदात्त होना, प्रतापी होना और नायकोचित-गुण-सम्पन्न होना अत्यन्त आवश्यक है। यह नायक 'दिव्य' (देवलोक का निवासी), 'अदिव्य' (मर्त्यलोक का निवासी) या 'दिव्यादिव्य' (दिव्य किन्तु मानवरूप में विराजमान) तीनो में से कोई भी महान् व्यक्तित्व हो सकता है।

नाटक के तीसरे महत्वपूर्ण तत्त्व 'रस' का निरूपण करते हुए साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—

एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा।
अंगमन्ये रसाः सर्वेकार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥६।१०

अर्थात् 'इस रूपक-प्रकार में एक ही रस का मुख्य रूप से अभिव्यंग्य होना आवश्यक है, और यह मुख्यतया अभिव्यंग्य रस या तो 'शृंगार' हो सकता है या 'वीर'। और जो रस-भाव हैं, वे भी यहाँ अभिव्यक्त रहा करते हैं, किन्तु मुख्य रूप से नहीं, अपितु अंगरूप (मुख्यरस के उपकारकरूप) से ही। इस रूपक-प्रबन्ध का अन्त विस्मयोत्पादक हुआ करता है।

नाटक के स्वरूप विवेचन के अन्त में साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—

चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपुरुषाः।
गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥६।११

अर्थात् 'इस रूपक-प्रबन्ध में उन-उन कार्यों में व्याप्त चार या पाँच प्रधान पुरुषों का चरित-वर्णन अपेक्षित है। इसकी रचना गोपुच्छ के अग्रभाग के समान हो तो अच्छी लगती है।'

नाटक 'ख्यातवृत्त' वाला होता है। उसका इतिवृत्त रामायण आदि के प्रसिद्ध राम आदि महापुरुषों के चरित्र के आधार पर रचा जाता है। इस वृत्त का संयोजन पाँच सन्धियों के द्वारा किया जाता है। नाटक में नायक के समान महनीय चरित वाले सहायकों का चरित्र-चित्रण भी रहता है। नाटक किस प्रकार 'सुख-दुःख-समुद्भव' हुआ करता है, यह तो राम, युधिष्ठिर आदि महापुरुषों के चरित्र-चित्रणों से युक्त, नाटकों में स्पष्ट ही है। दुष्यन्त जैसे महनीय राजवंशोद्भव महापुरुषों के लिए 'राजर्षि' शब्द प्रयुक्त किया गया है। दिव्य चरितनायकों का तात्पर्य भगवान् श्रीकृष्ण आदि के समान नायकों से है। दिव्यादिव्य नायकों से रामचन्द्र सरीखे नायक समझे जा सकते हैं, जो 'दिव्य अथवा भगवदवतार होने पर भी मानव लोक में मानव-सा व्यवहार किया करते हैं।

कविराज विश्वनाथ नें नाटक के गोपुच्छाग्रसमान होने को श्रेष्ठ बताया है। कुछ नाट्यकोविदों की दृष्टि में, 'उसके अंकों का क्रमशः छोटा होता जाना ही उसका गोपुच्छाग्रसमान होना है।' किन्तु अन्य नाट्य मर्मज्ञ इसका जो अभिप्राय लेते हैं, वह यह है कि 'जैसे गोपुच्छ में कुछ बाल कहीं छोटे होते हैं, और कहीं बड़े, वैसे ही नाटक में भी कुछ वृत्त-वर्णन अथवा चरित्र-चित्रण ऐसे हुआ करते हैं, जो मुख सन्धि में ही समाप्त हो जाया करते हैं, कुछ ऐसे जो प्रतिमुख सन्धि में समाप्त होते हैं, और इसी भाँति कुछ गर्भ में, कुछ विमर्श और कुछ निर्वहण सन्धि में समाप्त हुआ करते हैं।'

सभी नाट्याचार्यों ने 'नाटक' को ही सर्वश्रेष्ठ रूपक प्रकार माना है, क्योंकि इसमें ही सर्वाधिक रस का आविर्भाव हुआ करता है, और सर्वाङ्गीण अभिनय-सौन्दर्य दिखायी दिया करता है। धनञ्जय ने 'नाटक' को अन्य 'रूपक-प्रकारों' की प्रकृति माना है, और प्रकरणादि को नाटक की विकृति। नाटचदर्पणकार का कथन है, कि 'नाटक की रंजना इतनी विचित्र हुआ करती है, कि इससे सामाजिकों का हृदय नाच उठता है। नाटक का प्रयोजन सरसोपदेश हुआ करता है।' नाटक की रचना का 'गोपुच्छाग्र' समान होना नाट्याचार्य भरत-मुनि को भी मान्य है।

'अंक' रूपक के अवच्छेद अथवा अन्तः खण्ड का नाम है—

'अवस्थायाः समाप्तिर्वाच्छेदो वा कार्ययोगतः।'

आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है, 'अंक नाटक का वह अवच्छेद अथवा अन्त-विभाग है, जिसमें सामाजिकों की दृष्टि नायकचरित का साक्षात्कार किया करती है, जिसमें रसभावों का अभिव्यंजन-सौन्दर्य स्पष्ट प्रतीत हुआ करता है, जिसके शब्द से अर्थ और अर्थ से कवि हृदय स्वभावतः झलका करता है, जिसमें समस्त पदयोजना की एक शोभा दिखायी दिया करती है, जिसमें आधिकारिक वृत्त का एक अंश समाप्त रहा करता है, जिसमें अग्रिम इतिवृत्त की आकांक्षा उत्थापक वृत्त की सूक्ष्म सूचना दी गयी रहती है, जिसमें सामाजिक हृदय की उत्तरोत्तर उत्सुकता-वृद्धि की दृष्टि से नायक के कतिपय कार्यों की ही योजना की गयी होती है, जिसमें 'बीज' अर्थात् नाटक के पार्यन्तिक रस-भोग के अङ्कुर की इतिश्री नहीं दिखायी जाया करती, जिसमें अनेकानेक घटनाचक्र का वर्णन रहा करता है, जिसमें श्रव्यकाव्य की भाँति पद्यों की भरमार नहीं रहा करती, जिसमें नायकादि के नित्यादि कर्मों के अनुष्ठान के विरुद्ध कर्मों का निरूपण नहीं किया जाया करता, जिसमें ऐसी कथा की रचना नहीं हुआ करती जो कई दिन तक चलती रहे, जिसमें नायक-चरित, साक्षात् चित्रित न होने पर भी, यत्र-तत्र अभिव्यङ्ग्यरूप से विराजमान रहा करता है, जिसमें तीन या चार पात्रों के अभिनय का आनन्द लिया जाया करता है; जिसमें दूर से किसी को चिल्लाकर पुकारना, मारकाट, युद्ध, राज्य-विप्लव, देश-द्रोह, विवाह, भोजन, शाप, मल-मूत्रत्याग, मृत्यु, रतिक्रीड़ा, दन्तक्षत, नखक्षत, अन्य लज्जास्पद विषय, शयन, अधरपान, नगर अथवा दुर्ग का उपरोध, स्नान, अनुलेपन आदि आदि, अरञ्जक किंवा अरसास्पद विषयों का वर्णन नहीं

किया जाया करता; जिसमें राजमहिषी, राजपरिच्छद, राजामात्य, राज श्रेष्ठी आदि-आदि के प्रत्यक्ष किंवा मनोरंजक ऐसे चित्र खींचे हुए रहते हैं रसों किंवा भावों के स्वभावतः आविर्भावक लगा करते हैं, और जिसके अन्त सभी पात्र अपना-अपना अभिनय समाप्त कर रंगमंच से निकलते दिख दिया करते हैं।' (साहित्यदर्पण ६।१२ से

अंक का बिन्दु युक्त होना अत्यावश्यक है। अंक के बिन्दु युक्त हो अभिप्राय नाटक के पूर्व और उत्तर अवच्छेदों की सम्बद्धार्थकता का है। जैसे श्रव्यकाव्य का चिह्न उसका सर्ग विभाग है, वैसे ही दृश्य काव्य चिह्न उसका 'अङ्कविभाग' है। अंक का अभिप्राय गोद भी है। नाटक के एक अवच्छेद रसभावों के लालन-पालन के लिए गोद का काम किया करते इसलिये भी इन्हें अंक कहा जाया करता है।

गर्भाङ्क किसी नाटक के एक अंक के अन्तर्गत रहने वाले दूसरे अं नाम है। इसमें भी अङ्क की भाँति सूत्रधारकृत मंगलाचरण किंवा प्र आदि अनिवार्य हैं। इसमें बीजरूप इतिवृत्तार्थ किंवा नायक के प्रधान जन का अंशतः उपन्यास आवश्यक है। गर्भाङ्क एक उपाय है, जिसे ना सूच्य वस्तु के अल्पतम काल-व्यापी होने के कारण अपनाया करता है इसकी योजना रसोत्कर्ष के लिए होती है, यथा उत्तररामचरित में नायकोत्कर्ष के लिए, यथा 'बालारामायण' में और कहीं वस्तुत्कर्ष के लि 'अमोघराघव' में।

साहित्यदर्पणकार ने नाटक-प्रयोग का भी संकेत किया है और पूर्वरङ्गविधान का निरूपण किया है। यह नाट्य मण्डप की विघ्न माङ्गल्य गायनवादनादि द्वारा होता है। इसमें प्रमुख नान्दी गायन है। देव, द्विज, नृप आदि की ऐसी स्तुति-गीति है जिसमें रंगसामाजिकों शंसा का अभिप्राय गर्भित रहा करता है। यह 'अष्टपदा' भी हो सकती 'द्वादशपदा' भी। विश्वनाथ का नान्दी-लक्षण (आशीर्वचन रूप) सम्मत नहीं है, अपितु कतिपय अन्य नाट्यशास्त्रकारों का नान्दी- इनमें 'भावप्रकाशनकार' प्रमुख हैं। उनका कथन है कि सामाजि आशीर्वचन नान्दी के पूर्व ही रंगशाला में जो नाट्यारम्भ के लिए देवादि स्तुति रूप वाचिक किंवा कर; शिर संयोगादि रूप आंगिक किया जाया करता है, वह रंग में किये जाने वाले नाटक-प्रयोग के

उपक्रम-रूप होने के कारण 'रंगद्वार' नामक पूर्वरंग का अंग है। भरतमुनि ने पूर्वरंग के अंगों में 'रंगद्वार' के पहले जिस 'नान्दी' नामक अंग का निर्देश किया है वह नटों द्वारा अनुष्ठित हुआ करता है और इसलिये नाटककार का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। कालिदास के नाटकों में 'नांद्यन्ते सूत्रधारः' नान्दी की समाप्ति के बाद सूत्रधार का प्रवेश होता है, जिसका अभिप्राय है कि पूर्वरंग के अंगभूत नान्दी के बाद 'वेदान्तेषु' आदि नाटककार रचित नान्दी गायन (रंगद्वार-रचना) सूत्रधार का कार्य है, जिसके पश्चात् कवि का नाटक प्रारम्भ होता है।

जब सूत्रधार पूर्वरंग विधान के पश्चात् रंगमंच से उतर जाता है, तब सूत्रधार का एक समकक्ष नट (स्थापक) रंगमंच पर आकर नाट्य-प्रयोग की स्थापना (स्थापना) किया करता है। स्थापक नाट्य के अर्थ की स्थापना करता है। वह दिव्य वस्तु की सूचना दिव्य-भूमिका में तथा अदिव्य की अदिव्य भूमिका में तथा दिव्यादिव्य की सूचना दोनों में से किसी एक की भूमिका में करता है। स्थापक की स्थापना में भारतीवृत्ति की प्रचुरता रहती है। भारतीवृत्ति नटों का संस्कृत बहुल वचन व्यापार है। इसके चार अंग ये हैं— प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख। प्ररोचना के द्वारा सामाजिकों को अभिनय-दर्शन के प्रति आकृष्ट किया जाता है। वीथी और प्रहसन भी वाग्व्यापार प्रधान हैं। रूपक की प्रस्तावना उनका आमुख है, जिसमें नटी अथवा विदूषक अथवा पारिपार्श्विक सूत्रधार के साथ ऐसा आलाप-संलाप किया करते हैं जिसमें प्रस्तुत अभिनय का आक्षेप करने वाले वाक्यों का प्रयोग हुआ करता है। नाटक का इतिवृत्त दो प्रकार का होता है—आधिकारिक और प्रासंगिक।

वृत्ति चतुष्ट्य

प्रश्न २३—"साहित्यदर्पणकार द्वारा किया हुआ वृत्ति चतुष्ट्य का निरूपण नाट्यशास्त्र की परम्परा में है।" इस कथन की युक्तयुक्ति विवेचना कीजिए।

उत्तर—साहित्यदर्पणकार ने वृत्ति-चतुष्ट्य का निरूपण इस प्रकार किया है—

श्रृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसेरौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥६।१२२

चतस्रो वृत्तयो ह्येताः सर्वनाट्यस्य मातृकाः ।
स्युर्नायिकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु ॥६।१२३

अर्थात् 'वृत्ति' का अर्थ है नाटकादि प्रबन्धों में उपनिबद्ध नायक-नायि आदि के विविध व्यापारों को । 'वृत्ति' वस्तुतः अभिनयमात्र की जननी है। वृत्ति चार प्रकार की हुआ करती है—

(१) **कैशिक-वृत्ति**—यह शृंगाररस के अभिव्यंजन के लिये है ।

(२) **सात्त्वती वृत्ति**—यह वीररस की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त होती है।

(३) **आरभटी वृत्ति**—यह रौद्र तथा बीभत्स रस के प्रतिपादन के लिये है ।

(४) **भारती वृत्ति**—यह सभी रसों में प्रयुक्त होती है ।

भारती वृत्ति—नाट्याचार्य भरतमुनि का कथन है कि भारती वृ शब्द वृत्ति है और रूपक प्रबन्धों में चित्रित चरितों का वाग्व्यापार है अभिनवभारतीकार ने 'भारती' को 'पाठ्यप्रधाना' अथवा 'वाग्वृत्ति' कहा है रसार्णवसुधाकर के रचयिता ने भारती को स्पष्ट रूप से शब्दवृत्ति माना है—

आसां तु मध्ये वृत्तीनां शब्दवृत्तिस्तु भारती ।
तिस्रोऽर्थवृत्तयश्शेषाः तच्चतस्रो हि वृत्तयाः ।१।२८६

इस प्रकार भारतीवृत्ति 'वाक्प्रधानावृत्ति' है । यह वृत्ति पुरुषप्रयोज्या इस सम्बन्ध में विवाद है । नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने लिखा है—

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता ।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नामभवेत्तु वृत्ति ॥२२।२५

भरतमुनि ने भारती वृत्ति को 'पुरुष प्रयोज्या', 'स्त्रीवर्जिता', 'संस्कृतवाक्ययुक्ता' माना है । यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि भरतमुनि ने प्र पुरुषचरितों के संस्कृत वाग्व्यापार की दृष्टि से इसे 'संस्कृतवाक्ययुक्ता' हैं । स्त्रीचरितों की वृत्ति सात्त्वती अथवा कैशिकी होने से भारती को वर्जित कहा गया है । स्त्री-चरितों के वाग्व्यापार उनके हाव-भावों से अनु णित रहते हैं, अतः वहाँ शुद्ध भारती वृत्ति के दर्शन की सम्भावना नहीं है

नाट्यदर्पणकार का कथन है कि दृश्य और श्रव्य काव्यबन्धों की ज वृत्ति है । जब कवि हृदय में वर्ण्यचरित का सम्पूर्ण व्यक्तित्व झलक जात तभी काव्य की उत्पत्ति होती है । वर्ण्यचरित के सम्पूर्ण सक्रिय व्यक्तित्व

काव्य की वृत्ति में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का सम्बन्ध रहा करता है। वृत्ति-तत्त्व एक है, किन्तु विश्लेषण-बुद्धि में वह चतुर्विध आभासित हुआ करता है।

कैशिकी वृत्ति वह है जिसमें नानाविध मनोरम वेशभूषण की शोभा रहा करती है, जो रमणीपात्र के बाहुल्य से विचित्र लगा करती है। इस वृत्ति में बहुविध नृत्य, गीत आदि की योजना आवश्यक है, जिसमें कामोपभोग अथवा रतिसुख से सम्बद्ध बहुविध व्यापारों का प्राधान्य रहा करता है और जो सुन्दर हाव-भावादि से समन्वित हुआ करती है—

या श्लक्ष्णनेपथ्याविशेषचित्रा।
स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता॥
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा।
कैशिकी चारुविलासयुक्ता॥६।१२४

कैशिकी के चार भेद ये हैं—नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्म।

सात्त्वती वृत्ति—इसमें सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया, आर्जव आदि का प्रकाश हुआ करता है। इसमें प्रसन्नता की प्राप्ति स्वाभाविक है। इसमें शृंगार का भी पुट रहा करता है। करुण का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। इसमें अद्भुत रस के प्रकाशन की अद्भुत सामर्थ्य है। इसके चार अंग विशेष ये हैं—उत्थापक, सांघात्य, संलाप और परिवर्तक—

सात्त्वती बहुला सत्त्व-शौर्यत्यागदयार्जवैः॥६।१२८
सहर्षा क्षुद्रश्रृङ्गारा विशोका साद्भुता तथा।
उत्थापकोऽथ सांघात्यः संलापः परिवर्त्तकः॥६।१२९
विशेषा इति चत्वारः सात्त्वत्याः परिकीर्त्तिताः।

सात्त्वती वृत्ति का अभिप्राय अनुकार्य पुरुषों के विविध मानसिक व्यापार का अभिप्राय है। साथ ही साथ आङ्गिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनय से युक्त नटादि के भी मानस कार्य-कलाप का नाम सात्त्वती वृत्ति ही है। नाटकीय चरितों के मानसिक व्यापार भिन्न-भिन्न प्रकारों से प्रकाशित हुआ करते हैं। सात्त्वती वृत्ति का सम्बन्ध सात्त्विकाभिनय से है। इसका सम्बन्ध वीर, रौद्र और अद्भुत रसों से है। इस वृत्ति में धीरोदात्त नायक के मानसिक व्यापार का विश्लेषण किया जा सकता है।

आरभटी वृत्ति वह है जिसे माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, अधैर्य आदि-

आदि के व्यापारों में प्रवण मन का कर्मकलाप कहा जाया करता है। शत्रु के वध अथवा बन्धन आदि इसी वृत्ति के बाह्य रूप हैं। इसका औद्धत्य के साथ अटूट सम्बन्ध है। इसके चार भेद हैं—

(१) वस्तूत्थापन (२) संफेट (३) संक्षिप्ति और (४) अवपातन—

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥६।१३२
संयुक्ता वधबन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता।
वस्तूत्थापनसंफेटौ संक्षिप्तिरवपातनम् ॥६।१३३
इति भेदास्तु चत्वार आरभट्याः प्रकीर्तिताः।
मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमुच्यते ॥६।१३४

आरभटी वृत्ति वस्तुतः क्रोधावेग आदि से संभूत आंगिक, वाचिक और मानसिक व्यापार-विशेष का नाम है। आरभट ऐसे योद्धा को कहा करते हैं जो कि 'आर' अथवा 'प्रतोद' (अंकुश) के समान हिंसन समर्थ हो। जहाँ भी रूपक प्रबन्धों में ऐसे आरभट हों, वहाँ आरभटी वृत्ति विराजमान रहा करती है। इसमें अनृत, द्वन्द्व, वंचना आदि अनेकानेक विचित्रताओं का समावेश रहा करता है। इस वृत्ति के साथ आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य—इन चारों अभिनयों का सम्बन्ध है। यह वृत्ति दीप्त रस भावों से समन्वित वृत्ति है—

भयानके च बीभत्से रौद्रे चारभटी भवेत। —नाट्यशास्त्र

निष्कर्ष—यद्यपि चारों वृत्तियाँ परस्पर संकीर्ण वृत्तियाँ हैं क्योंकि कायिक, वाचिक और मानस व्यापारों का असंकीर्ण विभाग असम्भव है किन्तु तब भी किसी व्यापार के किंचिन्मात्र प्राधान्य के कारण भारती, कैशिक, सात्ववती और आरभटी चार विभाग किये जा सकते हैं—

न ह्येकरसजं काव्यं किञ्चिदस्ति प्रयोगतः।
भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा ॥
सर्वेषां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु।
समन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मतः ॥

—नाट्यशास्त्र २२।६७-६८

आचार्य अभिनवगुप्त का भी कथन है—

चतस्र इति चतुर्भेदत्वम् अन्यतमचेष्टांश-प्राधान्य विवक्षया।

रूपक प्रबन्धों में भाषा-विधान

प्रश्न २४—साहित्यदर्पणकार द्वारा निरूपित संस्कृत रूपक प्रबन्धों के भाषा-विधान का वर्णन कीजिए।

उत्तर—संस्कृत के रूपक-प्रबन्धों में भाषा-विधान का सिद्धान्त वास्तविक जीवन के वाग्व्यवहार की अनुकृति पर आश्रित है। साहित्यदर्पणकार ने भाषा-विधान का निरूपण करते हुए लिखा है कि—

पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात्कृतात्मनाम् ।।६।१५८
शौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम् ।

अर्थात् रूपक प्रबन्धों में उच्च श्रेणी के पढ़े-लिखे पुरुषों की भाषा 'संस्कृत' हुआ करती है। उच्च श्रेणी की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ शौरसेनी में बातचीत करती दिखायी जाया करती हैं।

आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्रीं प्रयोजयेत् ।६।१५९
अत्रोक्ता मागधी भाषा राजान्तः पुरचारिणाम् ।
चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठानां चार्धमागधी ।।६।१६०
प्राच्यां विदूषकादीनां, धूर्तानां स्यादवन्तिजा ।
योध नागरिकादीनां दक्षिणात्या हि दीव्यताम् ।।६।१६१

अर्थात् कुलीन स्त्रियों के गीत की भाषा 'महाराष्ट्री' है। राजा के अन्तःपुर में रहने वाले वामन, कुब्ज आदि लोगों की भाषा 'मागधी' हुआ करती है। चेट, राजपुत्र और श्रेष्ठिजन की भाषा अर्ध मागधी है। विदूषक आदि प्राच्या या गौड़ी भाषा का व्यवहार किया करते हैं। धूर्तों की भाषा 'आवन्ती' है। द्यूत सेवी सैनिकों और नागरिकों की भाषा दाक्षिणात्या या वैदर्भी है।

शबराणां शकादीनां शाबरीं संप्रयोजयेत ।
वाह्लीक भाषोदीच्यानां द्राविडी द्राविडादिषु ।।६।१६२
आभीरेषु तथा भीरी चाण्डाली पुक्कसादिषु ।
आभीरी शाबरी चापिकाष्ठापात्रोपजीविषु ।।६।१६३

अर्थात् शबरों और शक-यवन आदि लोगों की भाषा 'शाबरी' है। उदीच्य (उत्तर के) लोगों की भाषा वाह्लीक और द्राविड़ों (दक्षिण के लोगों) की भाषा 'द्राविड़ी' है। आभीरों की भाषा आभीरी और चण्डालों की भाषा चण्डाली हुआ करनी है। लकड़ी का काम करने वालों की भाषा आभीरी अथवा शाबरी—दोनों में से कोई भी हो सकती है।

तथैवाङ्गारकारादौ पैशाची स्यात्पिशाचावाक् ।
चेटीनामप्यनीचानामपि स्यात्सौरसेनिका ।।६।१६४
बालानां षण्डकानां च नीचग्रहविचारिणाम् ।
उन्मत्तानामातुराणां सैव स्यात्संस्कृतं क्वचित् ।।६।१६५

अर्थात् लोहार आदि की भाषा पैशाची हुआ करती है। उत्तम और मध्यम श्रेणी की चेटियों की भाषा शौरसेनी है। साथ ही बालकों, नपुंसकों, छोटे ज्योतिषियों उन्मत्तों और आतुर लोगों की भाषा भी शौरसेनी ही हुआ करती है। कहीं-कहीं इन्हें संस्कृत बोलते हुए भी प्रदर्शित किया जाया करता है—

ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्रयोपद्रुतस्य च ।
भिक्षुवल्कधरादीनां प्राकृतं संप्रयोजयेत् ।६।१६६
संस्कृतं संप्रयोक्तव्यं लिङ्गिनीषूत्तमासुच ।
देवीमन्त्रिसुतावेश्यास्वपि कैश्चितथोदितम् ।।
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्योभाषाविपर्ययः ।।६।१६८
योषित्सखीबालवेश्याकितवाप्सरसां तथा ।
वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तरान्तरा ।।६।१६९

अर्थात् धनोन्मत्त अथवा दरिद्र और साथ ही साथ भिक्षुक अथवा परिव्राजक की भाषा प्राकृत रखी जाया करती है। उत्तम जाति की ब्रह्मचारिणियों अथवा परिव्राजिकाओं की भाषा संस्कृत हुआ करती है। कुछ नाट्याचार्य रानी, सचिवपुत्री और वेश्या के लिये भी संस्कृत का प्रयोग उचित मानते हैं। जहाँ-तहाँ कार्यवश भाषा-परिवर्तन भी किया जा सकता है। साथ ही साथ स्त्री, सखी, बालक, वेश्या, द्यूतकार और अप्सरा के लिये बीच-बीच में संस्कृत भाषा बोलना उचित माना गया है। क्योंकि इससे उनकी विदग्धता का प्रकाशन किया जाया करता है।

विश्वनाथ ने लिखा है कि इन भाषाओं के उदाहरण रूपक-प्रबन्धों में स्वयं देखे जा सकते हैं। उन्होंने अपने पूज्य पितृचरण द्वारा रचित 'भाषार्णव' नामक ग्रन्थ से इन भाषाओं के स्वरूप-विमर्श का संकेत दिया है। इससे प्रतीत होता है कि 'भाषार्णव' ग्रन्थ में रूपक-प्रबन्धों में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं का स्वरूप-निरूपण हुआ है।

रूपक-प्रबन्धों में वास्तविक जीवन के वाग्व्यवहार की अनुकृति का उद्देश्य रूपकों को यथार्थ जीवन के निकट लाना है। जैसा विभिन्न श्रेणियों के लोग जीवन में बोलते हैं, वैसा ही उनके अनुकर्ता रूपक-प्रबन्धों में नाट्यदर्पण-कार ने भाषाविधान का यह सिद्धान्त उपस्थित किया है—

देवानीचनृणां पाठः संस्कृतेनाथ जातुचित्।
महिषी-मन्त्रिजा-पण्यस्त्रीणामव्याजलिङ्गि नाम्॥
बाल-षण्ड-ग्रहग्रस्त-मत्त-स्त्री रूपयोषिताम्।
प्राकृतेनोत्तमस्यापि दारिद्रयैश्वर्यमोरिहनः॥
अत्यन्तनीचभूतादौ पैशाची मागधी च वाक्।
शौरसेनी तु नीचस्यादेशोद्देशे स्वदेशगोः॥
तिर्यग्जात्यन्तरादीनामानुरूप्येण सङ्कथा।
भाषा-प्रकृति-वृत्तादिः कार्यतः क्वापिलङ्घनम्॥

विश्वनाथ का महाकाव्य-लक्षण

प्रश्न २५—विश्वनाथ कविराज के महाकाव्य-लक्षण की सर्वमान्यता का कारण बताते हुए उसकी विशद विवेचना कीजिए।

उत्तर—सर्वप्रथम आचार्यदण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में सर्गबन्ध को महा-काव्य बताया। महाकाव्य की उनकी परिभाषा इस प्रकार है—

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।

आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में महाकाव्य का स्वरूप विनिश्चय करते हुए लिखा है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः॥६।३१५
सद्वंशः क्षत्रियोवापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा॥६।३१६

अर्थात्—'पद्यकाव्य के प्रकारों में जो 'सर्गबन्धात्मक' काव्यप्रकार है उसे महाकाव्य कहते हैं। चरित्रवर्णन की दृष्टि से इस सर्गबन्ध रूप महाका... एक ही नायक का चरित्र चित्रित किया जाया करता है। यह ना... कोई देवविशेष हो, या प्रख्यात राजवंश का राजा हो, ऐसा ह... जिसमें 'धीरोदात्त' नायक के गुण विद्यमान रहा करते हैं।

काव्य में एक राजवंश में उत्पन्न अनेक कुलीन राजाओं की चरित्र-चर्चा भी दिखाई देती है।

महाकाव्य के रसाभिव्यञ्जन की दृष्टि से विश्वनाथ कविराज ने लिखा है—

श्रृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अङ्गानिसर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ।।६।३१७

अर्थात् श्रृंगार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक ही रस किसी महाकाव्य में अंगी अथवा प्रधान रूप से परिपुष्ट किया जा सकता है। इन तीनों रसों में से जो रस भी 'अंगी' अथवा 'प्रधान' रखा जाय, उसकी अपेक्षा अन्य सभी रस 'अंग' अथवा 'अप्रधान' रूप से अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। संस्थान रचना की दृष्टि से नाटक की सभी सन्धियाँ महाकाव्य में आवश्यक मानी गई हैं।

इतिवृत्त-योजना की दृष्टि से साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—

इतिहासोद्भवं बृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।।६।३१८

अर्थात् कोई भी ऐतिहासिक अथवा किसी महापुरुष के जीवन से सम्बद्ध कोई लोकप्रसिद्ध वृत्त यहाँ वर्णित किया जा सकता है। वैसे तो उपयोगिता की दृष्टि से महाकाव्य में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्ट्य का काव्यात्मक निरूपण किया जाया करता है, किन्तु परम फल के रूप में किसी एक का ही सर्वतोभद्र उपनिबन्ध युक्तियुक्त माना गया है।

आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य की उपर्युक्त स्वरूप-संगत विशेषताओं के अतिरिक्त कतिपय अन्यान्य भी विशेषतायें बतायी हैं, जो सर्गबन्ध रूप महाकाव्य में पायी जाती हैं, वे विशेषताएँ नौ हैं और इस प्रकार हैं—

(१) महाकाव्य का आरम्भ मंगलात्मक हुआ करता है। यह मंगल या तो 'नमस्कारात्मक' हो या 'आशीर्वादात्मक' हो या 'वस्तुनिर्देशात्मक' हो, महाकवि स्वयच्छा किंवा विषय-वर्णन पर निर्भर है।

नामक ग्रकिसी-किसी महाकाव्य में 'खलनिन्दा' (दुष्ट प्रकृति के आलोचकों होता है कि' 'सत्प्रशंसा' (साधु प्रकृति के आलोचकों की प्रशंसा) भी उप-का स्वरूप-निरूपण ई

(३) प्रत्येक सर्ग में किसी एक वृत्त में बद्ध पद्य रचे जाया करते हैं और प्रत्येक सर्गान्त में, उस वृत्त को छोड़कर अन्य वृत्त में पद्य-रचना की जाया करती है।

(४) आठ सर्ग से कम सर्ग महाकाव्य में नहीं हुआ करते और ये सर्ग भी ऐसे हुआ करते हैं जो न तो बहुत छोटे हों और न बहुत बड़े।

(५) किसी-किसी महाकाव्य में भिन्न-भिन्न वृत्तों में भी बद्ध पद्यों से सर्ग-निर्माण हुआ करता है।

(६) किसी सर्ग के अन्त में उसके अगले सर्ग में आने वाले वृत्त की सूचना आवश्यक हुआ करती है।

(७) सर्गबन्धात्मक काव्य में इन-इन विषयों का यथास्थान किंवा यथा-सम्भव साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया जाया करता है—संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन-उपवन, समुद्र. संभोग, विप्रयोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, सामद्युपायचतुष्टय तथा पुत्रजन्म आदि-आदि।

(८) महाकाव्य का नामकरण संस्कार कवि के नाम पर, वर्ण्यचरित्र के आधार पर नायक के नाम के अनुसार अथवा इनके अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर किया हुआ रहता है और

(९) महाकाव्य के सर्ग का भी नाम रखा जाया करता है जो कि उसमें वर्ण्य वृत्त के अनुसार हुआ करता है।

आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि महाकाव्य में सन्धिपञ्चक की रचना तो अनिवार्यतः हुआ करती है, किन्तु सन्ध्यङ्गों की रचना अनिवार्य नहीं अपितु उनकी उपयोगिता की दृष्टि से ही यत्र-तत्र की जाया करती है।

संध्यादि के सांगोपाङ्ग वर्णन का तात्पर्य जलकेलि, मधुपान आदि-आदि, उन-उन कालों अथवा स्थानों आदि में सम्भव मानव कार्यकलापों तथा मनो-विनोदों के वर्णन का तात्पर्य है। विश्वनाथ ने लिखा है कि महाकाव्य के उदाहरण ये हैं—

(१) रघुवंश—जिसका नामकरण वर्ण्य नायक के वंशज एक महाप्रतापी राजा के नाम पर है।

(२) शिशुपालवध—जिसका नाम प्रतिनायक सम्बन्धी वृत्त के नाम पर है।

(३) नैषध—जिसका नाम नायक के उपनाम पर है।

(४) राघव-विलास—विश्वनाथ कविराज रचित सर्गबन्ध महाकाव्य।

डा० सत्यव्रतसिंह ने विमर्श में लिखा है, साहित्यदर्पणकार का 'महाकाव्य' लक्षण जितना विशद और पूर्ण है उतना अन्य आलंकारिकों का नहीं। साहित्य-दर्पणकार ने इतिवृत्त, चरित्र-चित्रण और रसभावाभिव्यञ्जन—तीनों की दृष्टि से 'महाकाव्य' का स्वरूप निरूपण किया है। साहित्यदर्पण का महाकाव्य-लक्षण वस्तुतः लोचनकाकार के इस सूक्ष्म संकेत अर्थात्—

'महाकाव्यरूपः पुरुषार्थफलः समस्तवस्तुवर्णनाप्रबन्धः सर्गबन्धः संस्कृत एव।' (ध्वन्या० ३य उद्योत) का विशद वर्णन है।' साहित्यदर्पणकार ने महा-काव्य में सन्धि-सन्ध्यङ्गादि-योजना का निर्देश भी ध्वनिकार की मान्यता के समर्थन में किया है। विश्वनाथ ने महाकाव्य की जिन छोटी-मोटी विशेषताओं का उल्लेख किया है, वस्तुतः सभी उपलब्ध महाकाव्यों की विशेषतायें हैं। भावप्रकाशनकार ने सर्गबन्ध का तो लक्षण अवश्य किया है, किन्तु इसे महाकाव्य नहीं कहा है। डा० सत्यव्रतसिंह का अनुमान है कि 'सर्गबन्धों' में 'महाकाव्य' की कल्पना विश्वनाथ कविराज की प्रतिभा की एक देन है। भावप्रकाशनकार के अनुसार 'रघुवंश' 'संहिता' है किन्तु साहित्यदर्पणकार के अनुसार 'महा-काव्य'। वस्तुतः 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की कल्पना ने ही 'महाकाव्य' की कल्पना की है।'

विश्वनाथ ने महाकाव्य-सम्बन्धी कतिपय आनुषंगिक विशेषतायें भी बत-लायी हैं। आर्ष महाकाव्य 'महाभारत' (महर्षि-महाकवि व्यास प्रणीत) 'सर्ग' के बदले 'आख्यान' में विभाजित किया गया है। ध्वनिकार ने महाभारत को महाकाव्य नहीं, अपितु 'महाकाव्यात्मक शास्त्र' कहा है, किन्तु महर्षि व्यास प्रणीत महाभारत 'आर्ष महाकाव्य है'—इस धारणा के प्रवर्तक विश्वनाथ कविराज हैं।

ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक में लिखा है कि मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ के प्रतिपादन की दृष्टि से तो महाभारत शास्त्र है, किन्तु शान्त रस की मधुर अभिव्यंजना की दृष्टि से काव्य। कुछ आलंकारिकों ने काव्य के उनके विभाग किये हैं और उनके विभाजन के अनुसार महाभारत 'शास्त्रकाव्य' सिद्ध होता है महाकाव्य नहीं। विश्वनाथ कविराज ने महाभारत को 'आर्ष महाकाव्य'

कहकर अपने काव्य-विषयक सिद्धान्त—वाक्यं रसात्मकं काव्यम् की बड़ी सुन्दर पुष्टि की है।

प्राकृत भाषा में रचित महाकाव्य का विभाजन सर्गों में न होकर 'आश्वासों' में हुआ करता है। इन आश्वासों में अधिकांशतः 'स्कन्धक' अथवा 'गलितक' नाम के छन्द प्रयुक्त हुआ करते हैं; यथा—प्रवरसेन का सेतुबन्ध महाकाव्य और विश्वनाथ कविराज का 'कुवलयाशवचरित' महाकाव्य।

डा० सत्यव्रतसिंह ने विमर्श में लिखा है कि 'साहित्यदर्पणकार ने काव्यात्मकता की दृष्टि से संस्कृत और प्राकृत के महाकाव्यों में कोई भेद नहीं किया है और यह सर्वथा उचित ही है। 'सर्ग' के स्थान पर 'आश्वास' की रचना प्राचीन निर्माण-परम्परा का अनुसरण मात्र है, न कि अन्य कुछ।'

अपभ्रंश भाषा में रचित महाकाव्य सर्ग के स्थान पर कुड़वक में रचे जाते हैं। इन 'कुड़वकों' में अपभ्रंश भाषा के योग्य अनेकानेक छन्द रचे जाया करते हैं। उदाहरण 'कर्णपराक्रम।'

निष्कर्ष—डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है—'अलंकारवाद के आचार्य दण्डी के लिए, महाकाव्य के लक्षणों में उन सभी विशेषताओं का निर्देश कर देना स्वाभाविक है जो कि 'रघुवंश' आदि सर्गबन्धात्मक रचनाओं की विशेषतायें हैं, किन्तु रसध्वनिवादी कविराज विश्वनाथ ने, अपने महाकाव्य-लक्षण में, उन बातों का भी निर्देश कर दिया है जो कि रसध्वनिवाद की दृष्टि से ही महाकाव्यों में देखी जा सकती हैं। रसध्वनिवाद की दृष्टि से ही विश्वनाथ कविराज ने, महाकाव्य के लिए श्रृंगार, वीर और शान्त में से किसी एक को अङ्गी और दूसरे रसों को अङ्गरूप से निर्दिष्ट किया है। विश्वनाथ कविराज का 'महाकाव्य' लक्षण कई बातों में सर्वमान्य हो चुका है।

गद्यकाव्य-लक्षण-निरूपण

प्रश्न २६—साहित्यदर्पणकार द्वारा गद्यकाव्य के दो भेद बताये गए हैं। विवेचना कीजिए।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने श्रव्यकाव्य का द्वितीय भेद 'गद्यकाव्य' बताया है। गद्य का अभिप्राय इस प्रकार है—

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च ॥६।३३०
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्।

आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम् ।।६।३३१
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् ।

अर्थात् 'गद्य वह शब्दार्थ योजना है जो छन्दोबद्ध नहीं हुआ करती। विश्वनाथ के अनुसार यह गद्यरचना चार प्रकार की होती है—

(१) मुक्तक—वह गद्य-बन्ध है जो असमस्त पदों में रचा जाया करता है।

(२) वृत्तगन्धि—वह गद्य प्रकार है जिसमें वृत्तों के अशं यत्र-तत्र प्रतीत हुआ करते हैं।

(३) उत्कलिकाप्राय—वह गद्य भेद जो लम्बे-लम्बे समस्त पदों में रचा गया होता है। और

(४) चूर्णक—वह गद्य रचना है जिसमें छोटे-छोटे समस्त पदों का उपनिबन्ध हुआ करता है।

गद्य काव्य के उपर्युक्त चार भेदों के अतिरिक्त दो अवान्तर भेद भी हैं, जिन्हें कथा और आख्यायिका कहते हैं।

कथा—कथा का निरूपण साहित्यदर्पण में इस प्रकार किया गया है—

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ।।६।३३२
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद् वक्त्रापवक्त्रके ।
आदौपद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ।।६।३३३

अर्थात् कथा गद्यकाव्य का एक प्रभेद है, जिसमें सरस इतिवृत्त की रचना हुआ करती है। इस कथा की यह भी विशेषता है कि इसमें कहीं-कहीं 'आर्या' छन्द रचा जाया करता है और कहीं वक्त्र और अपावक्त्र छन्दों की भी रचना हुआ करती है। इसके प्रारम्भ में नमस्कारात्मक 'मंगल' किया जाया करता है और खल-निन्दा तथा सज्जन-प्रशंसा-सम्बन्धी पद्य भी उपन्यस्त रहा करते हैं। उदाहरणार्थ बाणभट्ट की कादम्बरी।

ध्वन्यालोककार का कथन है कि कथा गद्यकाव्य का प्रकार विशेष है। इसमें विकट बन्ध प्राचुर्य तो होता ही है, किन्तु इसका रसबन्ध-वैचित्र्य ही इसे 'काव्य' श्रेणी में स्थापित करने में समर्थ होता है—

'कथायां तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम्।'

आख्यायिका का निरूपण करते हुए विश्वनाथ कविराज ने लिखा है—

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम् ।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित् क्वचित ।।६।३३४
कथांशानां व्यवछेद आश्वास इति बध्यते ।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनीचत् ।।६।३३५
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम् ।

अर्थात् 'आख्यायिका भी कथा की ही भाँति गद्यकाव्य का एक प्रकार है। इसमें भी प्रायः 'कथा' की ही विशेषतायें रहा करती हैं। इसमें कवि अपने वशं का अनुकीर्तन करता है और यत्र-तत्र अन्य कवियों की भी चर्चा किया करता है। इसमें जहाँ-तहाँ पद्यसूक्तियाँ भी रहा करती हैं। इसके कथांशों का व्यवच्छेद (परिच्छेद) 'आश्वास' नाम से निर्दिष्ट किया जाया करता है। इसमें, आश्वास' के प्रारम्भ में, आर्या, वक्त्र और अपवक्त्र छन्दों में से किसी एक के द्वारा, किसी वियष-वर्णन के बहाने, वर्णनीय विषय की सूचना भी दी जाया करती है। इसके उदाहरण रूप में बाणभट्ट की 'हर्षचरित' नामक आख्यायिका प्रस्तुत की जा सकती है।

आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि 'कुछ काव्याचार्यों का यह कथन कि आख्यायिका नायक द्वारा कथित आख्यान रूप है, ठीक नहीं है। आचार्य दण्डी का 'यह स्पष्ट कथन है कि आख्यायिका में नायक द्वारा आख्यान-कथन का कोई नियम नहीं, क्योंकि कतिपय आख्यारकायें ऐसी भी हैं जिनके आख्यान-कथन नायक से भिन्न पात्रों द्वारा भी किये हुए पाये जाते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने कथा और आख्यायिका के अतिरिक्त 'आख्यान' आदि को भिन्न प्रकार का गद्यकाव्य न मानकर कथा और आख्यायिका में ही अन्तर्भूत किया है। विश्वनाथ का यह मत दण्डी के आधार पर है। इन आख्यान-जातियों के उदाहरण-रूप में पंचतन्त्र आदि रचनाएँ देखी जा सकती हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने गद्यपद्मात्मक काव्य प्रबन्ध को 'चम्पू' कहा है। 'विरुद' भी एक गद्यपद्यमय काव्य प्रबन्ध है, जिसमें राजप्रशस्ति की जाया करती है। 'करभक' वह काव्य प्रकार है, जो विविध भाषाओं में रचा जाया करता है, यथा विश्वनाथ की १६ भाषाओं में रचित 'प्रशस्तिरत्नावली।' विश्वनाथ का कथन है, कि इन उपरनिर्दिष्ट काव्यप्रकारों के अतिरिक्त भी अनेकानेक काव्यप्रकार हैं, किन्तु उनका निर्दिष्ट काव्य प्रकारों में ही अन्तर्भाव हो जाता है, अतः उनका पृथक् लक्षण निरूपण अभिप्रेत नहीं है। ६

निष्कर्ष—ध्वनिकार ने गद्य को 'छन्दोनियमवर्जित' रचना कहा है। आचार्य विश्वनाथ ने भी उनके अनुकरण पर गद्य को 'वृत्तगन्धोज्झित' रचना कहा है। गद्य को 'अपाद-पदसंतान' कहने का भी अभिप्राय यही है, कि गद्य, कवियों का वह प्रबन्ध-प्रस्थान है, जो 'वृत्त' अथवा 'छन्दोबन्ध' से भिन्न प्रकार का हुआ करता है। ध्वनिकार ने गद्यकाव्य का स्वरूप निरूपण इस प्रकार किया है—

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद्विभेदवत् ॥

अभिप्राय यह कि 'गद्य' और 'पद्य' तो काव्य के माध्यम हैं। गद्यकाव्य में भी रसबन्ध-विषयक उसी औचित्य का अनुसरण आवश्यक है, जो कि पद्यकाव्य के लिए अपेक्षित है। यहाँ भी एक रस की अङ्गी रूप से अभिव्यक्ति और उसके उपस्कारक रसों की योजना का वही स्थान और महत्त्व है, जोकि पद्य-काव्य में रहा करता है। गद्यकाव्य के विषयों अर्थात् कथा-आख्यान-आख्यायिका आदि भेदों की दृष्टि से कुछ थोड़ा रचना-परिवर्तन यदि हो भी तो आपत्तिजनक नहीं है।

विश्वनाथ ने गद्य के जो चार भेद बताए हैं। (मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक), वे गद्यकाव्य के भेद नहीं अपितु गद्यबन्ध के भेद हैं। ध्वनिकार ने गद्य के तीन रूप स्वीकार किये थे—दीर्घ समासा, अल्पसमासा और असमासा। किन्तु विश्वनाथ ने 'वृत्तगन्धि' बन्ध भी गद्य के एक प्रकार रूप में स्वीकार किया है।

आचार्य विश्वनाथ ने गद्यकाव्य ने भेदों—कथा और आख्यायिका का निरूपण आचार्य दण्डी के काव्यादर्श के आधार पर ही किया है। उन्होंने अपने कथन का समर्थन दण्डी की उक्तियों से किया है। इस प्रकार उनका गद्यकाव्य का निरूपण संग्रह मात्र है, उसमें कविराज की कोई मौलिक सूझ-बूझ नहीं है।

विश्वनाथ का काव्यदोष निरूपण

प्रश्न २७—"साहित्यदर्पण का काव्यदोष निरूपण काव्यप्रकाश से पूर्णरूपेण प्रभावित है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

उत्तर—विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के सप्तम परिच्छेद में काव्य-दोष निरूपण प्रस्तुत किया है। उनका यह निरूपण मम्मट के काव्यप्रकाश से प्रभा-

वित है। विश्वनाथ का दोषस्वरूप-निरूपण उनके काव्यस्वरूप निरूपण से संगत हो जाता है। रसात्मक वाक्य काव्य है और जिसे उसका दोष कहते हैं, वह इस रूप आत्मतत्त्व के अपकर्ष का हेतु है—

रसापकर्षका दोषा: । ७।१

विश्वनाथ का कथन है कि दोष वस्तुतः वे हैं जो रसात्मक वाक्य रूप काव्य की उत्कृष्टता अथवा सुन्दरता के विघातक हुआ करते हैं। इन दोषों में ये दोष जैसे कि श्रुतिकटुत्व, अपुष्टार्थत्व आदि तो ऐसे हुआ करते हैं जो मानव शरीर की उत्कृष्टता के विघातक काणत्व (कानेपन) खञ्जत्व (लंगड़ेपन) आदि की भांति काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ की उत्कृष्टता के विघातक होते हुए (अर्थात् परस्परया न कि साक्षात्) काव्य के रसादिरूप आत्मतत्त्व के अपकर्षकारक हुआ करते हैं और कुछ ऐसे भी हुआ करते हैं जिन्हें रसदोष कहा करते हैं, जैसे कि निर्वेदादि व्यभिचारिभावों का, उनके वाचक शब्दों से अभिधान आदि जो मूर्खत्व आदि दोषों की भांति रसादिरूप काव्यात्मतत्त्व के साक्षात् अपकर्षकजनक बना करते हैं।

डा० सत्यव्रतसिंह ने विमर्श रूप में लिखा है कि 'विश्वनाथ कविराज' ने काव्य-स्वरूप निरूपण की अपनी दृष्टि से 'दोष-तत्त्व' का निरूपण किया है। काव्य के 'रसात्मक काव्य' रूप होने के सारण, काव्य के दोष 'रस के अपकर्षक तत्त्व' हो सकते हैं। रस के अपकर्षक तत्त्वों में 'साक्षात्' और 'परम्परया' रस के अपकर्षक का स्वभाव मानना युक्तियुक्त ही है। 'साक्षात्' रस के अपकर्ष की ये तीन सम्भावनायें हैं—

(१) रस प्रतीति का अभाव।

(२) रस की विलम्ब से प्रतीति। और

(३) रसप्रतीति में चमत्कार की मात्रा की न्यूनता।

इस दृष्टि से काव्य के परम हेय तत्त्व रसदोष ही सिद्ध होते हैं। 'रस-दोष' की उत्पत्ति कवि की आसक्ति से सम्बद्ध है। कवि की 'अव्युत्पत्ति' भी काव्य के अपकर्ष का कारण है। इस 'अव्युत्पत्ति' से उन दोषों का सम्बन्ध है जो परम्परया रस के अपकर्षजनक तत्त्व हुआ करते हैं। मानव के शरीर में काणत्व, खंजनत्व आदि की भांति काव्य के शब्दार्थ-शरीर में श्रुतिकटुत्व, अपुष्टार्थत्व आदि दोष हुआ करते हैं और मानव के मूर्खत्व, अलसत्व आदि की भांति काव्य के वे दोष हैं, जिन्हें एक शब्द में 'रस-दोष' कहा गया है। यहाँ

काव्यप्रकाशकार की दोष-मीमांसा साहित्यदर्पणकार के दोष-स्वरूप-विवेक को प्रभावित कर रही है।'

कविराज विश्वनाथ ने रस के अपकर्षक दोषों के पाँच प्रकार निरूपित किये हैं—

(१) पदगत दोष।
(२) पदांशगत दोष।
(३) वाक्यगत दोष।
(४) अर्थगत दोष और।
(५) रसगत दोष।

इन दोषों का स्वरूप इनके नाम से ही स्पष्ट है। पदगत दोष सोलह हैं। वे इस प्रकार हैं—दुःश्रत्व या श्रुतिकटुत्व, त्रिविध अश्लीलत्व, अनुचितार्थत्व, अप्रयुक्तत्व, ग्राम्यत्व, अप्रतीतत्व, संदिग्धत्व, नेयार्थत्व, निहितार्थत्व, अवाचकत्व क्लिष्टत्व, विरुद्ध मतिकारित्व, अविमृष्ट विधेयांशत्व, निरर्थकत्व, असमर्थत्व, और च्युतसंस्कारत्व तो केवल पदगत दोष हैं, किन्तु अन्य वाक्यगत भी हैं। साथ ही साथ इन्हीं में कतिपय जैसे कि 'दुःश्रवत्व' आदि ऐसे हैं, जो 'पदांशवत भी हुआ करते हैं।

वाक्यदोष जो एकमात्र वाक्यगत हुआ करते हैं, तेईस हैं, जिनका साहित्य-दर्पण में सोदाहरण विवेचन किया गया है। ये दोष एकमात्र वाक्य दोष हैं। विश्वनाथ ने काव्यप्रकाशकार-सम्मत वाक्य दोषों का ही निरूपण किया है। मम्मट ने वाक्यमात्रगत इक्कीस दोष माने हैं, किन्तु विश्वनाथ ने मम्मट द्वारा निरूपित 'विसन्धित्व' दोष को तीन दोषों के रूप में देखा है, अतः उनके वाक्यगत दोषों की संख्या २३ हो गयी है।

विश्वनाथ ने अर्थगत २३ दोषों की साहित्यदर्पण में सोदाहरण विवेचना की है। उन्होंने रस सम्बन्धी चौदह दोष बताए हैं। तदनन्तर विश्वनाथ ने लिखा है, कि 'जिन दोषों का अब तक निरूपण किया गया, उनके अतिरिक्त 'अलंकार-दोष' की प्राचीन आलंकारिक सम्मत मान्यता निरर्थक है। साहित्य-दर्पणकार ने दोषों के अपवादों का भी विवेचन किया है। काव्यप्रकाशकार का कथन है—

अनुकरणे तु सर्वेषाम्।
सर्वेषां श्रुतिकटु प्रभृतीनां दोषाणाम्।। ७म उल्लास

साहित्यदर्पणकार ने भी लिखा है—

अनुकारे च सर्वेषां दोषाणां नैव दोषता ।।७।३१

इस प्रकार विश्वनाथ ने मम्मट की मान्यता का अनुसरण किया है, किन्तु ऐसे प्रसंग में किया है, जिससे यह स्पष्ट होना कठिन है कि अनुकरण पद दोषों का ही अपवाद स्थान है, या अन्य दोषों जैसे कि अर्थगत अथवा रसगत दोषों का भी । अर्थगत अथवा रसगत दोष अनुकार्य अथवा अनुकरण—दोनों प्रकार के वाक्यों में दोष ही प्रतीत होते हैं, गुण नहीं ।

डा० सत्यव्रतसिंह का कथन है कि जब विश्वनाथ ने रसरूप आत्मत्व के अपकर्षक तत्वों को दोष माना है, ऐसी परिस्थिति में पद, पदांश, वाक्य और अर्थ—दोषों का विवेक (जिसे विश्वनाथ ने किया है) किस प्रकार समञ्जस हो सकता है । क्या यहाँ आचार्य मम्मट की काव्य-परिभाषा का (विश्वनाथ पर) प्रभाव नहीं दिखायी देता ? किन्तु यहाँ यह बात भी है, कि जब पद, पदांश, वाक्य और अर्थ के दोषों से 'वाक्य' दूषित हो जाय तब 'रस' रूप आत्मतत्त्व के समीचीन अभिव्यंजन में भी तो कमी आ ही जायगी । इसलिये पञ्चविध दोषतत्त्व के निरूपण में कोई अनुपपत्ति नहीं । इन दोषों में, कुछ इसलिये 'रसविघातक' हैं, क्योंकि उनके द्वारा 'रसादि की प्रतीति' में रुकावट पड़ जाती है, कुछ इसलिये वर्जनीय हैं, क्योंकि वे 'रसादिप्रकर्ष' की प्रतीति में बाधक हैं और कुछ इसलिये रसापकर्षक हैं, क्योंकि वे 'रसादि-प्रतीति' में विलम्ब लगा दिया करते हैं ।'

निष्कर्ष यह कि काव्य दोष निरूपण में विश्वनाथ की दृष्टि काव्य के आत्मभूत तत्त्व रस के विघात या अपकर्षक तत्त्वों पर रही है । उनके इस विवेचन पर मम्मट के काव्यप्रकाश के काव्य-दोष-निरूपण का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है । इस क्षेत्र में उनकी कोई मौलिक स्थापना नहीं मिलती ।

विश्वनाथ द्वारा निरूपित गुणतत्त्व का विवेचन

प्रश्न २८—विश्वनाथ द्वारा निरूपित काव्य में गुणतत्त्व का स्वरूप निरूपण करते हुए उसका उपयोग बताइये ।

अथवा

"विश्वनाथ ने आचार्य मम्मट की अर्थ गुण-समीक्षा के आधार पर अर्थगुणों को, गुणत्रय में अन्तर्भूत सिद्ध किया है ।" इस कथन की विवेचना कीजिए ।

उत्तर—विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण के अष्टम परिच्छेद में 'काव्य में गुण-तत्त्व' का निरूपण इस प्रकार किया है—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्मा शौर्यादयो यथा ।
गुणाः माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ।।८।१

अर्थात् 'जैसे प्राणी शरीर में सारभूत आत्मतत्त्व के धर्म, शौर्य, औदार्य आदि गुण कहे गये हैं, वैसे ही काव्य-शरीर में सारभूत रस-तत्त्व के धर्म, माधुर्य, ओज आदि भी गुण कहे जाया करते हैं।

तात्पर्य यह है, कि जिस प्रकार प्राणिमात्र के शरीर-संस्थान में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आत्मतत्त्व के उत्कर्षकारण, शौर्य और औदार्य आदि 'गुण' शब्द से प्रतिपादित किये जाया करते हैं, उसी प्रकार शब्दार्थ शरीर रूप काव्य के परमसार रस के धर्मभूत माधुर्य, ओज आदि भीं; जो कि वस्तुतः रस के स्वरूप विशेष हैं, गुण कहे गये हैं, और इसलिए गुण कहे गये हैं, क्योंकि ये ही वे रस-धर्म हैं; जो कि रसाभिव्यंजक पद-समुदाय के 'काव्य' कहे जाने के एकमात्र निदान हैं, और जिनका एकमात्र कार्य अपने आधारभूत 'रस' का उत्कर्षवर्धन है।

ध्वनिदार्शनिकों का यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि 'गुण रस के धर्म हैं।" आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।

मम्मट की भांति विश्वनाथ ने भी ध्वनिवादियों द्वारा निरूपित गुणवाद का निरूपण और विवेचन किया है, जिनके अनुसार 'गुण' रसरूप काव्यात्मतत्त्व के धर्म सिद्ध होते हैं, न कि शब्द अथवा अर्थ के।

ये रसधर्मभूत गुण तीन हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। माधुर्य का निरूपण इस प्रकार है—

चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।

अर्थात् माधुर्य वह है, जिसे एक ऐसा आह्लाद अथवा आनन्द कह सकते हैं जिसका स्वरूप सहृदय हृदय की 'द्रुति' अथवा 'द्रवीभूतता' पिघल पड़ना है।

'मम्मट के मत का खण्डन करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है, कि उनका यह कहना कि 'माधुर्य चित्त की द्रुति का कारण है' सर्वथा चतुरस्र नहीं लगता। जब हृदय की द्रुति अथवा द्रवीभावमयता आस्वादात्मक आह्लाद से कोई भिन्न वस्तु नहीं है, तब इसे (हृदयाह्लाद रूप) माधुर्य का कार्य कैसे मान

लिया जाय ? हृदय की द्रुति अथवा द्रवी भावमयता क्या है ? हृदय की द्रुति अथवा द्रवीभावमयता वस्तुत: सहृदय के हृदय का पिघल-सा पड़ना है, और यह तभी सम्भव है, जबकि सहृदय का हृदय उत्साहादिजन्य अनावेश अर्थात् विषय ग्रहण में असामर्थ्य के स्वभाव-सुलभ काठिन्य, अनुताप-अमर्ष आदि से संभूत 'दीपत्व' किंवा हास-विस्मय आदि से उत्पन्न 'विक्षेप' से सर्वथा मुक्त होकर रति आदि कोमल भावों के स्वरूप से अनुविद्ध आनन्द के अनुभव में लीन हो जाता है ।

मम्मट ने माधुर्य को द्रुतिकारक माना है, द्रुतिरूप नहीं स्वीकार किया क्योंकि वैसे तो माधुर्य श्रृङ्गार आदि मधुर रसों का आस्वाद विशेष है, किन्तु इसका अभिव्यक्ति क्षेत्र वह शब्दार्थ युगल है जो कि मधुर श्रृङ्गारमय हुआ करता है । शब्दार्थ युगल के माधुर्य का अभिप्राय, मधुर श्रृङ्गार रस के अभि-व्यंजन की सामर्थ्य है । इसीलिए गुण भी शब्दार्थ युगल के 'काव्य' होने के कारण रूप से निर्दिष्ट किये गये हैं । विश्वनाथ ने माधुर्य, आह्लाद और द्रुति को एक ही आनन्दानुभव मान लिया है । इसका कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है ।

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में माधुर्य का क्षेत्र निरूपित करते हुए लिखा है कि यह माधुर्य संभोग श्रृङ्गार, करुण रस, विप्रलम्भ श्रृङ्गार और शान्त रस के अनुगत रहा करता है और इनमें भी उत्तरोत्तर मधुर लगा करता है । माधुर्य के अभिव्यक्ति क्षेत्र के सम्बन्ध में विश्वनाथ मम्मट से सहमत हैं । काव्यप्रकाश में लिखा है—करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् । किन्तु साहित्यदर्पणकार की यह धारणा कि 'माधुर्य शृंगाराभास' आदि का भी धर्म अथवा स्वरूप विशेष है—काव्यप्रकाशकार आदि प्राचीन काव्याचार्यों में नहीं दिखाई देती ।

माधुर्य के अभिव्यञ्जन के साधन इस प्रकार हैं—

(१) वर्ग, जैसे कि कर्णकटु ट, ठ, ड और द को छोड़ कर 'क' से 'भ' पर्यन्त के वर्ण, जो अपने-अपने वर्ग के अन्त्य वर्ण से मिलकर श्रुतिमधुर ध्वनि की सृष्टि किया करते हैं, जैसे अनङ्ग—कुञ्ज आदि में ।

(२) असमस्त रचना

(३) अल्पसमासवती रचना और

(४) मधुर पद-योजना ।

जैसे, अपने-अपने वर्ग के अन्त्य वर्ण से सम्बन्ध वर्णों की माधुर्य व्यंजकता का यह उदाहरण—

अनङ्गमङ्गलभुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः ।
जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तःसन्तापसन्ततिम् ।।

अर्थात् 'उस सुन्दरी के अपाङ्गों की वे भांगिमायें, जो अनंग की मंगलमयी जन्मभूमियाँ हैं, युवा-प्रेमियों के हृदय में निरन्तर सन्ताप उत्पन्न किया करती हैं ।'

यहाँ अनङ्ग, मङ्गल, अपाङ्ग, भङ्गी, जनयन्ति और अन्तःसन्तापसन्ततिम् में वर्ग के प्रथम वर्ण, अपने वर्गान्त्य वर्ण से सम्बद्ध हुए, माधुर्य की अभिव्यंजना में तत्पर लग रहे हैं ।

इसी भाँति असमस्त किंवा अल्पसमासवती रचना में उपर्युक्त प्रकार के वर्णों की माधुर्य व्यंजकता का उदाहरण विश्वनाथ ने अपनी रचना से प्रस्तुत किया हैं—

लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
समालिङ्गन्नङ्ग द्रततरमनङ्ग प्रबलयन् ।
मरुन्दन्द मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्द विन्दन् किरति मकरन्द दिशिदिशि ।।

ओज गुण का निरूपण करने में भी विश्वनाथ ने काव्यप्रकाशकार की आलोचना की है । उन्होंने लिखा है—

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।।८।४
वीर बीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्यतु ।

अर्थात् ओज सहृदयहृदय की वह दीप्ति अथवा प्रज्वलित-प्रायता है जिसका स्वरूप चित्त की विस्तृति अथवा उष्णता है । यह ओज, वीर, बीभत्स और रौद्ररस में उत्तरोत्तर प्रकृष्ट रूप से विराजमान रहा करता है ।

मम्मट के अनुसार ओज 'दीप्तिकारण' है, 'दीप्ति रूप' नहीं जैसा कि इस पंक्ति से स्पष्ट है—

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हे तुरोजो वीररसस्थितिः ।।८।६९

अर्थात् 'दीप्ति' एक आस्वाद विशेष है और रौद्रादिरसों के अनुभव का परिणामस्वरूप है । यह दीप्ति ही वस्तुतः 'ओज' है और रौद्रादि रस इस दीप्ति अथवा ओज के ही आस्वादरूप हैं । रौद्रादिरसों को उपचार से ही ओज कहा

जा सकता है। इसी प्रकार रौद्रादि रस के प्रकाशन-समर्थ शब्द और अर्थ तथा दीर्घ समासयुक्त वाक्य भी उपचारतः 'दीप्ति' ही कहे जा सकते हैं। 'चित्त की विस्तृति' चित्त की एक अवस्था है, जिसकी उत्पत्ति दीप्ति अथवा ओज अथवा रौद्रादिरसास्वाद से सम्बद्ध है।

ओज के अभिव्यञ्जन के साधन ये हैं—

(१) वर्गों के प्रथम और तृतीय वर्ण, उनके अपने-अपने अन्त्य वर्ण से संयोग आदि, संयुक्त अथवा असंयुक्त ट ठ ड और द, तालव्य शकार और मूर्धन्य षकार।

(२) दीर्घसमासवती रचना।

(३) औद्धत्यपूर्ण पदयोजना।

प्रसाद गुण का विवेचन विश्वनाथ ने ध्वनिकार एवं मम्मट के अनुरूप ही इस प्रकार किया है—

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्तं शुष्केन्धनमिवानलः ॥८।७
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।

अर्थात् 'प्रसाद' सहृदय हृदय की एक ऐसी निर्मलता है जो कि चित्त में उसी भाँति व्याप्त हो जाती है, जिस भाँति सूखी लकड़ी में आग। यह प्रसाद समस्त रसों का धर्म अथवा स्वरूप-विशेष है और इस की अवस्थिति सभी रचनाओं की विशेषता हुआ करती है। प्रसाद के अभिव्यञ्जन के साधन वे शब्द हैं, जिनके अर्थ, उनके श्रवण मात्र से ही झलक उठते हैं।

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में लिखा है कि आलंकारिक आचार्य उपर्युक्त माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को शब्दगुण भी कहा करते हैं, किन्तु ऐसा कहने में 'गुणवृत्ति' अथवा 'उपचार' का ही आश्रय लिया करते हैं। वस्तुतः तीनों गुण सहृदय सामाजिक के आस्वाद रूप हैं। इन्हें रसगुण कहने में उपचार का आश्रय लिया गया है और उपचार से ही इन्हें शब्द और अर्थ के भी गुण कहा जा सकता है, जैसा कि कहा भी गया है।

विश्वनाथ ने ध्वनिवाद की परम्परा में लिखा है कि 'प्राचीन आलङ्कारिकों जैसे वामन आदि के द्वारा शब्द-गुण के रूप में गिनाये गये श्लेष, समाधि, औदार्य और प्रसाद गुण कोई अतिरिक्त गुणतत्त्व नहीं अपितु 'ओज' में ही अन्तर्भूत दिखायी देते हैं।

विश्वनाथ ने प्राचीन आलङ्कारिक सम्मत माधुर्य को भी, जिसे 'पृथक्-पदत्व' कहा गया है, उसे रस धर्मभूत 'माधुर्य में अन्तर्भूत माना है, जिसकी अभिव्यक्ति असमस्त पद-रचना द्वारा हुआ करती है। इसी प्रकार प्राचीन आलंकारिकों का 'अर्थव्यक्ति' नामक शब्द गुण, जिसका स्वरूप पदों का अनायास अर्थ बोधन है, 'प्रसाद' गुण के द्वारा ही गतार्थ समझना चाहिए। प्राचीन अलंकारशास्त्र में वर्णित 'कान्ति' और 'सुकुमारता' नामक जो दो शब्द गुण हैं, वे क्रमशः 'ग्राम्यत्व' और 'दुःश्रवत्व' दोषों' के परिहाररूप ही हैं।

प्राचीन आलंकारिकों द्वारा स्वीकृत 'समता' नामक शब्द गुण, जिसे 'मार्गा भेद' अथवा उपक्रम और उपसंहार में बन्ध का ऐक्यरूप्य कहा जाया करता है, वस्तुतः तो गुण होने के बदले यत्र-तत्र 'दोष' सा ही प्रतीत होता है और यदि कहीं गुण सा भी लगा करता है तो उपर्युक्त प्राचीन-अलंकारशास्त्रसम्मत गुणों में ही यथासम्भव अन्तर्भूत दिखाई दिया करता है।

विश्वनाथ ने प्राचीन अलंकारशास्त्रसम्मत अर्थगुणों का भी उपर्युक्त गुण त्रय में अन्तर्भाव दिखाया है—

ओजः प्रसादो माधुर्यं सौकुमार्यमुदारता।
तद भावस्य दोषत्वात्स्वीकृता अर्थगा गुणाः ॥८।१४

अर्थात् प्राचीन वामन आदि आलंकारिकों द्वारा मान्य ओज, प्रसाद, माधुर्य सौकुमार्य और औदार्य नामक जो अर्थ-गुण हैं, वे भी, इन गुणों के अभावरूप दोष के परिहार के अतिरिक्त और कोई गुण-तत्त्व नहीं है। प्राचीन आलंकारिकों ने ओज से पदों की अभिप्राय-गर्भता, प्रसाद से अर्थ-निर्मलता, माधुर्य से उक्ति-विचित्रता, सौकुमार्य से अपरूपता और औदार्य से अग्राम्यता का अभिप्राय लिया है। अब ये पाँच अर्थ-गुण ऐसे हैं जिन्हें गुण मानने के बदले दोषाभावरूप मानना अधिक उचित है। यथा, 'ओज' अपुष्टर्थ दोष का अभाव है, 'प्रसाद' अधिकपदत्व का परित्याग है और माधुर्य 'अनवीकृतत्व' का परिहार है तो सौकुमार्य 'अमंगलव्यञ्जक अश्लीलत्व' का वर्जन है और औदार्य 'ग्राम्यत्व' का निराकरण है।

इसी प्रकार प्राचीन आलंकारिक-सम्मत 'अर्थव्यक्ति' नामक जो गुण है, वह भी वस्तुतः अर्थ गुण नहीं अपितु स्वभावोक्ति अलंकार का एक स्वरूप विशेष है। और जिसे 'कान्ति' नामक अर्थ-गुण कहा गया है, उसे तो रस की मुख्य अभिव्यक्ति अथवा गुणीभूत अभिव्यक्ति में निःसंदिग्धरूप से अन्तर्भूत

मानना ही उचित है। इसी प्रकार 'श्लेष' नामक अर्थगुण कोई गुण नहीं, अपितु एक बन्ध-वैचित्र्यमात्र है और 'समता' नामक अर्थ-गुण दोषाभाव के अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं है। इस प्रकार समाधि नामक अर्थगुण को भी गुण मानना अनुचित है। समाधि—अयोनि अर्थात् अपने बुद्धि वैभव से उपकल्पित अवर्णितपूर्व काव्यार्थ और अन्यच्छायादोनि अर्थात् कवि-परम्परा—प्रसिद्ध काव्यार्थ के आधार पर पुनः परिकल्पित पूर्ववर्णितच्छाय काव्यार्थ—दोनों प्रकार के काव्यविषयक अर्थों का दर्शन।

साहित्यदर्पणकार ने आचार्य मम्मट की अर्थगुण-समीक्षा के आधार पर, अर्थगुणों को, गुण त्रय में अन्तर्भूत सिद्ध किया है। प्राचीन अलंकारशास्त्र सम्मत अर्थगुण रस के धर्म अथवा स्वरूप विशेष नहीं और इसलिए इन्हें गुण मानना निरर्थक है। यह एक समीचीन सिद्धान्त है।

विश्वनाथ का रीतितत्त्व निरूपण

प्रश्न २९—विश्वनाथ द्वारा निरूपित काव्य में रीति तत्त्व का स्वरूप-विवेचन करते हुए उसका उपयोग बताइये।

उत्तर—विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण के नवम परिच्छेद में काव्य में रीति-तत्त्व का निरूपण इस प्रकार किया है—

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्यात् चतुर्विधा।। ९।१

अर्थात् रीति, अङ्गरचना की भांति, पद-रचना अथवा पद-संघटना है जो कि रसभावादि की अभिव्यञ्जना में सहायक हुआ करती है। रसादीनाम का तात्पर्य शब्दार्थशरीररूप काव्य के आत्मभूत रसादि का है।

डा० सत्यव्रतसिंह ने उपर्युक्त कारिका के विमर्श में लिखा है—'साहित्य-दर्पणकार' के अनुसार 'रीति' और 'संघटना' एक ही वस्तु है। 'रीति' अथवा 'संघटना' रस की अभिव्यक्ति का निमित्त है और इसीलिए साहित्यदर्पणकार ने इसे रसभावादि की 'उपकर्त्री' माना है। काव्यप्रकाशकार ने रीति-तत्त्व पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला था, क्योंकि प्राचीन ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि में 'वृत्ति' और 'रीति' का रहस्य वर्ण-संघटनवैशिष्ट्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। ध्वनिकार का स्पष्ट कथन है—

वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपिप्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्त-

योऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिता, ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः।

लोचनकार की भी इस सम्बन्ध में यही समीक्षा है। किन्तु साहित्यदर्पणकार 'रीति' को न छोड़ सके। सम्भवतः रुद्रट और भोजराज के प्रभाव में पड़कर साहित्यदर्पणकार ने 'रीति' और 'काव्य' के उपकार्योपकारक भाव-सम्बन्ध पर यह सब जोर दिया है।

विश्वनाथ ने रीति के चार प्रकार माने हैं—(१) वैदर्भी, (२) गौड़ी, (३) पांचाली, (४) लाटी। वैदर्भी रीति वह है जिसे माधुर्य के अभिव्यंजक वर्णों से पूर्ण, असमस्त अथवा स्वल्प-समासयुक्त ललित रचना कहा गया है। आचार्य रुद्रट का यह मत है—"वैदर्भी रीति अथवा ललित-पद-रचना इस प्रकार की हुआ करती है जिसमें समस्त पदावली का प्रयोग नहीं हुआ करता, जहाँ एक-आध पद समस्त हो जायें तो कोई हानि नहीं, जिसमें श्लेषादि दसों शब्दगुण विराजमान रहा करते हैं, जिसमें द्वितीय वर्ग अर्थात् चवर्ग के वर्णों का बाहुल्य सुन्दर लगा करता है और जिसमें ऐसे वर्ण रहा करते हैं जोकि स्वल्प प्रयत्न से उच्चरित हो सकते हैं।

गौड़ी—वह रीति है जिसे ओजगुण के अभिव्यञ्जक भर्णों से पूर्ण समास-प्रचुर, उद्भट रचना कहा गया है। आचार्य वामन के अनुसार वैदर्भी और गौड़ी परस्पर विषम स्वभाव की रीतियाँ अथवा पद-रचनायें हैं। आलङ्कारिक पुरुषोत्तम का मत है 'गौड़ी' रीति ऐसी हुआ करती है जिसमें समास बाहुल्य रहा करता है, जिसमें ऐसे वर्णों का प्राचुर्य हुआ करता है जो कि महाप्राण कहे जाया करते हैं, जिसमें अनुप्रास-वैशिष्ट्य आवश्यक है और जिसमें वाक्यों का प्रयोग कम हुआ करता है।

पाञ्चाली—वह रीति है जिसे माधुर्य और ओज के अभिव्यञ्जक वर्णों को छोड़कर अन्य अवशिष्ट वर्णों अर्थात् प्रसाद के अभिव्यञ्जक वर्णों से ऐसी पदरचना कहा गया है जिसमें पाँच या छः पदों के समासों से बड़े समासों का प्रयोग नहीं हुआ करता।

आलङ्कारिक भोजराज का कथन है कि 'पाञ्चाली' रीति वह रीति है जिसमें पांच या छः पदों से अधिक पद वाले समास नहीं प्रयुक्त किये जाया करते, जिसमें ओज और कान्ति के गुण विराजमान रहा करते हैं और जो कि माधुर्य के अभिव्यंजक किंवा कोमल वर्णों से पूर्ण पदरचना हुआ करती है।

लाटी वह रीति है जिसमें वैदर्भी और पाञ्चाली दोनों रीतियों की विशेषतायें विराजमान रहा करती हैं। किसी काव्याचार्य के मत में 'लाटी' रीति ऐसी हुआ करती है जिसमें कोमल पदों के समास का सौन्दर्य देखने योग्य हुआ करता है, जिसमें संयुक्त वर्णों का प्रयोग स्वल्प मात्रा में ही हुआ करता है और जिसमें प्रकृतोपयुक्त विशेषणों से रमणीय वर्ण्य वस्तु की एक अपनी ही छटा छिटका करती है।

कतिपय काव्याचार्यों ने रीति-चतुष्ट्य का यह संक्षिप्त स्वरूप बताया है— वैदर्भी रीति का अभिप्राय 'मधुरबन्ध', 'गौड़ी' रीति का अभिप्राय 'उद्धतबन्ध', 'पाञ्चाली' रीति का अभिप्राय 'मिश्रबन्ध' और लाटी रीति का अभिप्राय 'मृदुबन्ध' है। इस प्रकार रीति और बन्ध या संघटना का अभेद माना गया है।

विश्वनाथ का रीतिनिरूपण मम्मट से इस बात में भिन्न है कि मम्मट ने 'गुणाश्रया संघटना' के अपवाद-रूप में वाच्यौचित्य आदि का निर्देश किया था, किन्तु विश्वनाथ के अनुसार वाच्यौचित्य आदि रीति के अपवादस्वरूप है। विश्वनाथ ने ध्वनिकार के अनुकरण में रसौचित्य को सर्वोपरि स्थान दिया है। ध्वन्यालोक में लिखा है कि क्या पद्यबन्ध और क्या गद्यबन्ध सर्वत्र रसौचित्य ही रचना अथवा संघटना का नियामक है। जहाँ-तहाँ 'विषयौचित्य' के कारण रचना में जो वैषम्य सम्भव है वह वस्तुतः 'रसौचित्य' का ही एक अवान्तर औचित्य है।

रसौचित्य के बाद 'वक्त्रौचित्य' का स्थान है। 'वक्ता' के औचित्य के कारण रचना-नियमन में वक्ता का अभिप्राय कवि और कवि प्रतिभोत्थापित चरित' दोनों का है। जहाँ कवि अथवा कविनिबद्ध चरित रस भावविवक्षाशून्य हों, वहाँ कोई भी रचना क्षम्य नहीं है, किन्तु यदि कवि अथवा कविनिबद्धचरित रसभावसमन्वित हैं तो रचना का 'असमासा' अथवा 'मध्यमसमासा' होना अनिवार्य है।

रचना का तीसरा नियामक विषयौचित्य अथवा प्रबन्धौचित्य है। विश्वनाथ ने रीति-वर्णन के प्रसंग में ही उपर्युक्त औचित्य का वर्णन किया है। उनका यह निरूपण अत्यन्त सुन्दर है। प्रबन्धौचित्य का निरूपण विश्वनाथ ने नाटकादि प्रबन्ध, आख्यायिका प्रबन्ध तथा शृङ्गाररस के प्रसङ्ग में भी, मृदुल वर्ण इत्यादि के अभाव में लक्षित किया है।

काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार में अन्तर

विश्वनाथ ने ध्वनिवाद में 'रीतितत्व' का निरूपण आवश्यक माना है। रीति का अभिप्राय माधुर्यादिगुण का अभिव्यंजक पदविन्यास है। माधुर्यादिगुण का अभिव्यंजन करने वाली पदरचना इसलिये 'रीति' है, क्योंकि इसी पदरचना से माधुर्य आदि का स्वरूप-विशेष जाना जाया करता है। राजशेखर ने रीति-तत्त्व के सम्बन्ध में लिखा है—

सति वत्करि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्नविनायेन परिस्रवति वाङ्मधु।

अर्थात् रीति ही वह काव्यतत्व है जिसमें रस-प्रवाह का सामर्थ्य रहा करता है। शब्द और अर्थ रसात्मक वाक्यरूप काव्य के अङ्ग रूप हैं और शब्दार्थ-संघटना अथवा रीतिकाव्य का शरीरसंस्थान है जिसमें 'रस' रूप आत्म-तत्त्व का स्फुरण सम्भव है।

साहित्यदर्पणकार ने जिसे वैदर्भी कहा है, मम्मट ने उसे मधुर 'घटना' माना है। उन्होंने 'वैदर्भी का उल्लेख न करते हुए भी माधुर्य के अभिव्यञ्जन के साधनरूप से असमासा अथवा अल्पसमासा मधुर 'घटना' का माना है—

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा॥

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इसी घटना को वैदर्भी रीति के नाम से स्पष्ट निर्दिष्ट किया है—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥—सा० द०। २

मम्मट और विश्वनाथ दोनों ने ही 'घटना' और 'वैदर्भी' के रूप में समान लक्षण प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकार मम्मट जिस 'घटना' को ओजस्विता का अभिव्यञ्जक मानता है—

योग आद्यतृतीयाभ्यामात्ययो रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि॥

विश्वनाथ इसी को गौड़ी रीति मानता है—

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः।
समास बहुला गौड़ी॥ ९।३

मम्मट के अनुसार प्रसाद गुण का अभिव्यञ्जन करने वाली 'घटना' कोई पृथक् घटना नहीं है, क्योंकि प्रसाद गुण तो समस्त प्रकार की संघटना का गुण है। कविराज विश्वनाथ की भी यही मान्यता है—

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधका श्रुतिमात्रतः ॥ ८।८

विश्वनाथ की पाञ्चाली और लाटी रीतियों का कोई स्पष्ट आधार नहीं है। उन्होंने पाञ्चाली को वैदर्भी और गौडी तथा लाटी को वैदर्भी और पाञ्चाली का सम्मिश्रण माना है। इस प्रकार उन्होंने रीतिवादी आचार्यों का अनुसरण किया है क्योंकि ध्वनिवादियों ने पाञ्चाली और लाटी को किसी रस विशेष का अभिव्यञ्जन करने वाली पद-संघटन नहीं माना है। विश्वनाथ ने रीतिनिरूपण में रसध्वनिवाद और रीतिवाद का समन्वय किया है। मम्मट यह समन्वय नहीं चाहते थे, अतः उन्होंने रसाभिव्यंजक तत्त्व के रूप में रीति का विवेचन नहीं किया है। डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि 'विश्वनाथ कविराज ने आधा समन्वय किया और आधा वे न कर सके। जब तक कोई रसध्वनिवादी आलङ्कारिक यह न कहे कि पाञ्चालीं रीति शृङ्गारादि मधुर-रस और वीरादि दीप्त रसों के संकर का अभिव्यञ्जन साधन है, तब तक 'पाञ्चाली' रीति और 'रस' का व्यङ्गय व्यञ्जक भाव सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो जाय। कोई भी रसध्वनिवादी काव्याचार्य शृङ्गार और वीर का साङ्कर्य नहीं मान सकता और इसलिए रसध्वनिवाद में पाञ्चाली की मान्यता भी निरर्थक सिद्ध हो जाती है। लाटी रीति में तो रसाभिव्यञ्जन की चर्चा और भी असम्भव है क्योंकि यह रीति वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली का सम्मिश्रण है। जब तक मधुर और दीप्त और मधुर-दीप्त रसों का एकत्र सम्मिश्रण असम्भव है तब तक लाटी 'रीति' की कल्पना रसध्वनिवाद के सर्वथा विपरीत ही मानी जायगी। यहाँ स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज रसवाद और रीतिवाद का समन्वय करने चले हैं किन्तु उनके लिये यह कार्य अशक्य हो गया है। विश्वनाथ कविराज का यह 'रस-रीति' समन्वय-प्रयास रस गंगाधरकार की इस कल्पना को जन्म देता है कि 'रचना विशेष' को रसाभिव्यञ्जक मानना एक गौरव है और अप्रामाणिक भी है—

वर्णरचना विशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव न रसाभिव्यञ्जकत्वम्, गौरवान्माना भावाच्च। —रस गंगाधर १म आनन

निष्कर्ष—इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्वनाथ ने रीतितत्त्व का निरूपण करने में रसवाद की मान्यता के साथ ही रीतिवाद की मान्यता का अनुसरण करने का भी प्रयास किया है। किन्तु इसमें उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली है।

विश्वनाथ का अलंकार-तत्व निरूपण

प्रश्न ३०—"अलंकार के सम्बन्ध में साहित्यदर्पणकार का मत ध्वनिवाद की परम्परा में है।" इस कथन की युक्तिपूर्वक समीक्षा कीजिए।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में अलंकारों का निरूपण काव्यप्रकाश की मान्यता के अनुरूप किया है। उन्होंने लिखा है कि—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥१०॥

अर्थात् 'अलंकार' शब्द और अर्थ के उन अस्थिर धर्मों को कहा करते हैं, जो मानव के शरीर की शोभा बढ़ाने वाले अङ्गद या बाजूवन्द आदि अलंकारों की भाँति काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाया करते हैं, और अन्ततोगत्वा काव्य के आतमभूत रस-भाव के अभिव्यञ्जन में सहायक हुआ करते हैं।

अनुप्रास और उपमादि अलंकार काव्य के शरीर भूत शब्द और अर्थ के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हुए काव्य के आतमतत्त्व रस-भाव के प्रकाशन में सहायता पहुँचाया करते हैं। अलंकारों को 'शब्द और अर्थ के 'अस्थिर धर्म' कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य में इनकी स्थिति गुणों की भाँति आवश्यक अथवा अनिवार्य नहीं होती।

ध्वन्यालोक में ध्वनिवादी आलंकारिकों की यह दृष्टि व्यक्त हुई है, कि अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म है—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यतेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादेरलङ्कार वर्ग स्याङ्गत्व साधनम्॥

—ध्वन्यालोक २।१८-१९

ध्वन्यालोककार ने स्पष्ट कर दिया है कि रसरूप अङ्गी की दृष्टि से ही अलंकारों का ग्रहण-परित्याग निर्वाह-अनिर्वाह आदि सम्भव है। और अलंकार

का ग्रहण-परित्याग इसी बात का प्रमाण है, कि ये काव्य के अस्थिर धर्म हैं। लोचनकार ने भी कहा है, कि काव्य में अलंकारों की उपयोगिता वाच्यवाचक रूप अङ्गों की शोभावर्धकता के ही कारण है—

वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनः अवलम्बन्ते ।
तदाश्रितास्तेऽलंङ्कारा: मन्तव्याः कटकादिवत् ।।

—ध्वन्यालोकलोचन २।६

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में ध्वनिवाद की इस मान्यता को इस उक्ति में प्रस्तुत किया है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्ग द्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।।

अर्थात् 'जिन्हें अलंकार कहना चाहिये, जैसे कि शब्द के अलंकार-अनुप्रास और अर्थ के अलंकार-उपमा आदि वे उसी भाँति हैं, जिस भाँति हार आदि आभूषण हुआ करते हैं। अर्थात् जैसे हार आदि आभूषण कण्ठ आदि अङ्ग के सौन्दर्यवर्द्धक हुआ करते हैं, वैसे ही अनुप्रास और उपमा आदि अलंकार शब्द और अर्थरूप अंग के सौन्दर्यवर्धक होते हैं। यह एक दूसरी बात है, कि कभी जैसे किसी सुन्दरी के कण्ठ का आभूषण उसके वास्तविक सौन्दर्य, उसके सुन्दर व्यक्तित्व में चार चाँद लगा दे वैसे ही कभी किसी कविता के शब्द अथवा अर्थ का अलंकार उसके वास्तविक सौन्दर्य-उसके रसरूप आत्मतत्त्व के भी चमक उठने में हाथ बँटा दे।

ध्वन्यालोकलोचनकार का कथन है कि प्राचीन अलंकारशास्त्र में 'गुण' और 'अलंकार' की चर्चा तो होती आ रही थी किन्तु 'गुण' और 'अलंकार' की यह चर्चा निराधार थी क्योंकि न तो प्राचीन आलंकारिक रसरूप 'गुणों' से परिचित थे, जिसकी दृष्टि से माधुर्य आदि गुण वस्तुतः 'गुण' पता चलते और न रसरूप, 'अलंकार्य' से, जिसकी अपेक्षा अनुप्रास आदि अलङ्कार वस्तुतः 'अलङ्कार' के रूप में दिखाई देते। 'गुण' और 'अलंकार' बिना 'गुणी' और 'अलंकार्य' के विवेक के कोई अभिप्राय रखते हुए नहीं प्रतीत होते। 'गुण' तो 'गुणी' से सदा अपृथक् सिद्ध होगा किन्तु 'अलङ्कार' के लिए 'अलंकार्य' से साक्षात् सम्बद्ध होना आवश्यक नहीं। अलंकार तो रसरूप काव्यात्मतत्त्व के अंगभूत वाच्य-वाचक को ही साक्षात् अलंकृत कर सकेगा। अंग के अलङ्कार

यदि अंगी को अलंकृत दिखायें तब तो वस्तुतः अलंकार हुए। किन्तु ऐसी बात सदा नहीं होती। इसलिये 'गुण' और 'रस' में धर्मार्धर्मिभाव सम्बन्ध तथा 'रस' और 'अलङ्कार' में भूष्यभूषक भाव सम्बन्ध मानना अनिवार्य है। धर्म और धर्मी सदैव सह अवस्थित होंगे किन्तु भूष्य (अलंकार्य) और भूषक (अलङ्कार) परम्परया सम्बद्ध होंगे। जिसे 'अलंकार्य' कहते हैं, वह न तो शब्द है और न अर्थ अपितु शब्दार्थ शरीर 'काव्य' है, 'रस' है।

इस प्रकार शब्द के अलङ्कार (शब्दालङ्कार) रसरूप अलंकार्य के वाचकरूप अंग और अर्थ के अलङ्कार (अर्थालङ्कार) रसरूप अलंकार्य के वाच्यरूप अंग के अलङ्कार हैं।

आचार्य मम्मट ने ध्वनिवाद की इसी 'गुण' और 'अलङ्कार' सम्बन्धी मान्यता का यहाँ समर्थन किया है और इसी दृष्टि से अपनी काव्य की परिभाषा में 'पुनः क्वापि अनलङ्कृती शब्दार्थौं तत् काव्यम्' यह कहा है।

कविता के अलङ्कार वे होते हैं, जो उसके वाचक और वाच्य शब्द और अर्थ रूप अङ्गों के सौन्दर्य की वृद्धि किया करते हैं, और उसी प्रकार जैसे हार आदि आभूषण किसी सुन्दरी के कण्ठ आदि अंगों को।

साहित्यदर्पणकार को ध्वनिवाद का मम्मट द्वारा समर्थित उपर्युक्त मत स्वीकार है, सर्वथा मान्य है किन्तु उन्होंने जो यह कहा है—

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालंकार रीतयः ॥१।३

यह उक्ति गुण के साथ अलङ्कार का रसविषयक उत्कर्ष-योग बताती है। यदि विश्वनाथ ने यह उक्ति न रखी होती तो उनका मत स्पष्टतया मम्मट की परम्परा में ही रहता। उन्होंने यह उक्ति केवल मम्मट के काव्य-लक्षण के खण्डन के हेतु वितण्डा रूप में रखी है। यद्यपि वे मम्मट के मत का ही दशम परिच्छेद में (१०।१) समर्थन कर रहे हैं।

डा० सत्यव्रतसिंह का भी कथन है, कि गुण, अलङ्कार और रीति—ये काव्य के उत्कर्षकारक तत्त्व हैं, यह बात रसात्मकवाक्यरूप-काव्यवादी आचार्य के मुख से शोभा नहीं देती। गुण और अलङ्कार का साम्यवाद तो ध्वनिवाद के पूर्ववर्ती आलंकारिकों का काव्यवाद है, और अलङ्कारसर्वस्वकार आचार्य रूय्यक ने इसका स्पष्ट संकेत भी किया है। यहाँ रसात्मक वाक्य रूप काव्य के उत्कर्षाधायक तत्त्वों में अलङ्कारों के साथ गुणों की गणना रसध्वनिवादी आचार्य के लिये कुछ उल्टी सी बात लगती है। साथ ही साथ ध्वनिवाद से

और रीति का सामञ्जस्य स्थापित किया हुआ है। यहाँ गुण के अतिरिक्त ति का परिगणन इस बात की सूचना देता है कि गुण और रीति परस्पर क्-पृथक् तत्त्व हैं।' आचार्य विश्वनाथ कविराज का मम्मट-खण्डन-संरम्भ ऐसा उग्र हो उठा कि गुण और अलङ्कार एक ही कक्षा में रख दिये गये र गुण और रीति दो पृथक्-पृथक् तत्त्व के रूप में प्रतीत होने लगे।

श्लेष अलंकार का निरूपण

प्रश्न ३१—श्लेष अलङ्कार का निरूपण कीजिए। श्लेष अलङ्कार के द-श्लेष और अर्थ-श्लेष प्रकारों के सम्बन्ध में विश्वनाथ तथा अन्य आचार्यों मत का निरूपण कीजिए।

उत्तर—श्लेष अलङ्कार का निरूपण करते हुए विश्वनाथ कविराज ने हित्यदर्पण में लिखा है—

शिलष्टैः पदैरनैकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।
वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि ॥ १०।११
श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः।

अर्थात् 'श्लेष' वह अलङ्कार है जिसे श्लिष्ट पदों द्वारा अनेक अर्थों अभिधान में देखा जाया करता है। यह श्लेष आठ प्रकार का हुआ ता है—

(१) वर्णश्लेष—जहाँ वर्ण में श्लेष हो। यथा—

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनतः।
अवलम्बनाथ दिनभर्त्तुरभून्न पतिष्यतः कर सहस्रमपि ॥

यहाँ 'विधौ' पद में विधि और विधु के अन्तिम वर्ण, इकार और उकार मी विभक्ति के एकवचन में 'औ' के एकरूप में परिणत दिखाई दे रहे हैं।

(२) प्रत्ययश्लेष—जहाँ प्रत्यय में श्लेष हो। यथा—

किरणा हरिणाङ्कस्य दक्षिणश्च समीरणः।
कान्तोत्संगजुषा नूनं सर्व एव सुधाकिरः ॥

यहाँ सुधाकिरः में 'क्विप' और 'क' दोनों प्रत्ययों के मेल के कारण यश्लेष और भिन्न अर्थ हैं।

(३) लिङ्गश्लेष—जहाँ दो लिङ्गों का श्लेष हो। यथा—

विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा तन्व्याः स्तनद्वयी।
तव दत्तां सदामोदं लसत्तरलहारिणी ॥

यहाँ 'लसत्तरहारिणी' में 'नपुंसकलिंग' और 'स्त्रीलिंग' के मेल के कारण लिङ्गश्लेष है।

(४) **प्रकृतिश्लेष**—जहाँ धातुओं का परस्पर मेल हो।

अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृयात्मजः॥

यहाँ वक्ष्यति में वह् धातु और वच् धातु परस्पर मिली-जुली दिखाई दे रही हैं और 'सामर्थ्यकृत' में कृत् और कृञ् धातुओं का परस्पर मेल दर्शनीय है।

(५) **पदश्लेष**—'पृथुकार्त्तस्वर पात्रम्' आदि में पदश्लेष है (पृथु+कार्त्तस्वर, पृथुक+आर्त्तस्वर), पदश्लेष से प्रकृतिश्लेष में यही भेद है कि पदश्लेष में तो पद के साथ-साथ विभक्ति और समास भी पृथक्-पृथक् प्रतीत हुआ करते हैं किन्तु 'प्रकृतिश्लेष' में विभक्ति और समास का वैलक्षण्य अथवा पार्थक्य नहीं रहा करता।

(६) **विभक्तिश्लेष**—उदाहरण देखिए—

सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः।
नयोपकारसांमुख्यमायासि तनुवर्तनम्॥

यहाँ 'हर' शिवसंबोधन पक्ष में 'सुप्' है तथा चोर-पक्ष में हर पद हरणार्थक हृ धातु से विहित 'सिप्' विभक्ति का रूप है।

(७) **वचनश्लेष**—इसे प्रत्ययश्लेष में अन्तर्भूत भी किया जा सकता है क्योंकि 'सुप्' और 'तिङ्' विभक्ति भी प्रत्यय रूप ही हैं किन्तु इसे इसलिए एक पृथक् श्लेष प्रकार माना गया है क्योंकि यह प्रत्ययों (क्विप् आदि) से निष्पन्न न होने और एकमात्र सुबन्त और तिङन्त रूप होने के कारण एक अपनी ही विचित्रता रखता प्रतीत होता है।

(८) **भाषा-श्लेष**—संस्कृत और महाराष्ट्री भाषा में पृथक् अर्थ रखने वाला उदाहरण साहित्यदर्पण में इस प्रकार है—

महदे सुरसन्धंमेतमव समासङ्गमागमाहरणे।
हर बहुसरणं तं चित्तमोहमवसर उमे सहसा॥

श्लेषगत भेद-प्रभेद का निरूपण करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है—

पुनास्त्रिधा सभंगोऽथाभंगस्तदुभयात्मकः॥ १०।१२

अर्थात् श्लेष, पदों के भङ्ग-अभङ्ग के कारण तीन प्रकार का हो जाया
रता है—

(१) सभङ्गश्लेष,
(२) अभङ्गश्लेष, और
(३) सभङ्गाभङ्गश्लेष ।

विश्वनाथ ने लिखा है कि श्लेष का यह भेदत्रय इसके उपर्युक्त आठ
ारों में ही यथासम्भव अनुगत समझ लेना चाहिये । एक उदाहरण में उन्होंने
नों भेद दिखाये हैं—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो,
यश्चोद्‌वृत्तभुजंगहारवलयो गंगां च योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ।।

अर्थात् (विष्णुपक्ष में) स माधवः त्वां पायात् वे माधव (लक्ष्मीपति विष्णु)
ारी रक्षा करें, जो अजन्मा हैं और (कृष्ण रूप में) शकटासुर के संहारक
जिन्होंने अमृत मंथन के समय, बलिदानव के संहारक अपने रूप को
हिनी' रूप में परिवर्तित किया है, जो अनाचारी कालिय नाग का दमन कर
हैं, जो श्रुतियों और उपनिषदों के अन्तिम रहस्य हैं, जिन्होंने गोवर्धन
और (कूर्म रूप में) पृथिवी को धारण किया है, जिन्हें देवता लोग चन्द्रमा
ाशक राहू के मस्तक का काटने वाला कहा करते हैं, जो कि यादवों के
ास (द्वारकाधाम) के संस्थापक और संहारक दोनों हैं और जो कि सब कुछ
ाता हैं, सबके मनोरथ सफल करने वाले हैं ।

इस श्लोक का श्लेष से दूसरा अर्थ 'शिवजी' के पक्ष में होता है । इस
क में 'येन' इत्यादि में सभङ्गश्लेष, 'अन्धकक्षयकरः' में अभङ्गश्लेष और
त्र सभङ्गाभङ्ग श्लेष की अवस्थिति है । शिवप्रसंग में इसका अर्थ यह है
ोभव अथवा काम के संहारक, जिन्होंने त्रिपुरदाह के समय, बलजित् विष्णु
रीर को अपने अस्त्ररूप में प्रयुक्त किया, जिन्होंने लपेटे हुए सर्पराज को
ना हार और वलय बनाया, जिन्होंने अपने मस्तक पर गंगा को धारण
ा, जिनका चन्द्रालंकृत मस्तक और स्तुत्य 'हर' नाम देवगण की वन्दना का
य है, जिन्होंने अन्धकासुर का संहार किया और जो उमा के पति हैं, वे
ान् शंकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें ।'

आचार्य विश्वनाथ ने श्लेष के शब्दश्लेष और अर्थश्लेष भेदों के सम्बन्ध मे दो मत उद्धृत किये हैं।

(१) रूय्यक का मत है कि सभंगश्लेष की गणना शब्दालङ्कारों में की जानी चाहिए और अभङ्गश्लेष को अर्थालङ्कार मानना उचित है क्योंकि य श्लेष प्रकार अर्थश्लेष का विषय है। कोई अलङ्कार इसीलिए शब्द अथवा अर्थ का अलङ्कार कहा जाया करता है क्योंकि वह शब्द अथवा अर्थ पर आश्रि रहा करता है।

(२) मम्मट का कथन है कि ध्वनि, गुणीभूत व्यङ्ग्य, दोष, गुण और अलङ्कार की शब्दगतता अथवा अर्थगतता की व्यवस्था का एकमात्र नियाम 'अन्वयव्यतिरेक' का सिद्धान्त है। यहाँ 'आश्रयाश्रयिभाव' अथवा 'आधाराधेय भाव' का क्या काम इसलिए शब्द के भेद अथवा अभेद से, 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि सूक्ति में, कहीं शब्दश्लेष (सभङ्गश्लेष) और कहीं जैसे कि 'अन्धकक्षय' आदि में अर्थश्लेष (अभङ्गश्लेष) का मानना युक्तियुक्त नहीं क्योंकि 'अन्धकक्षय' आदि में, जबकि अर्थ भिन्न हैं, तब शब्द की अभिन्नता कैसी ? क्योंकि यह तो एक मान्य सिद्धान्त है कि 'यदि कहीं अर्थ भिन्न-भिन्न है तो वहाँ शब्द भी भिन्न-भिन्न ही होंगे।

मम्मट का तर्क है कि 'अन्धकक्षय' में शब्द श्लेष मानना अधिक युक्ति संगत है क्योंकि यहाँ चमत्कार एकमात्र इस शब्द के ही कारण है, यहाँ अन्य प्रकार के दो शब्द रखने पर यह चमत्कार नष्ट होता दिखाई देगा और वैचित्र्य रूप के अभाव में अलंकार नहीं रहेगा। यदि अर्थ की दृष्टि से इसे अर्थालंकार माने तो अनुप्रास आदि को भी अर्थालंकार मानना होगा क्योंकि वे भी रसभावादि रूप अर्थ की अपेक्षा रखते हैं। इसलिए सभङ्ग और अभङ्ग दोनों प्रकार के श्लेष शब्दालंकार रूप ही हैं और 'अन्धकक्षय' का श्लेष शब्द श्लेष ही है। अर्थश्लेष का विषय वह है जहाँ शब्द के बदल देने पर भी श्लेष में कोई क्षति नहीं आया करती। जैसे—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशीवृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥

यहाँ स्तोकेन आदि पदों के बदले स्वल्पेन रखने पर भी श्लेष अक्षुण्ण रहता है, अतः यह अर्थश्लेष का उदाहरण है।

विश्वनाथ ने उद्भट और रूय्यक आदि की इस मान्यता का खण्डन कर दिया है कि 'श्लेष का क्षेत्र अन्य अलंकारों से असंकीर्ण रहा करता है, श्लेष अन्य अलंकारों के आभासमात्र का उत्पादक हुआ करता है और श्लेष अन्य अलंकारों का अपवादरूप होने से उनका बाधक है। अर्थात् अन्य अलंकार सामान्य रूप है और श्लेष विशेष रूप होने से, बाधक है। खण्डन का आधार यह है कि समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि के प्रसंगों में तो श्लेष की गन्ध भी नहीं रहती। जिन अलंकारों में श्लेषजन्य वैचित्र्य की अधिकता होती है, उन्हें श्लेष माना जा सकता है। विश्वनाथ की मान्यता है कि श्लेष का क्षेत्र सदैव दूसरे अलंकारों से विविक्त अथवा भिन्न होता है। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर विश्वनाथ ने अन्य आचार्यों द्वारा निरूपित 'उपमा ध्वनि' और 'श्लेष' का विवाद भी तय कर दिया है। इस प्रकार विशद विचार से श्लेष का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

साहित्यदर्पणकार ने श्लेष अलङ्कार को दोनों प्रकार का माना है—

(१) शब्दालंकार रूप शब्दश्लेष।

(२) अर्थालंकार रूप अर्थश्लेष।

अर्थश्लेष की परिभाषा इस प्रकार है—

शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् ॥१०।५७

अर्थात् श्लेष वह अलङ्कार है जिसे स्वभावतः एक अर्थ के वाचक पदों द्वारा अनेक अर्थों का अभिधान अथवा प्रतिपादन कहा जाया करता है। यह कारिका में 'स्वभावादेकार्थैः' इसलिए कहा गया है जिसमें इस अलङ्कार (श्लेष अथवा अर्थ श्लेष) को 'शब्दश्लेष' से (जिसमें स्वभावतः द्वयर्थक रहा करते हैं। पृथक् रूप से समझा जा सके। साथ ही 'अनेकार्थवाचनम्' में 'वाचनम्' का प्रयोग इसलिये है जिसमें 'ध्वनि' से (जहाँ अनेक अर्थों की व्यंजना हुआ करती है) इस अलङ्कार को (जिसमें अनेक अर्थों का अभिधान अपेक्षित है) पृथक् किया जा सके। उदाहरण—

प्रवर्तयन क्रियाः साध्वीर्मालिन्यं हरितां हरन्।
महसा भूयसा दीप्तो विराजति विभाकरः॥

यहाँ राजपरक किंवा सूर्यपरक दोनों अर्थ वाच्यरूप से विवक्षित होकर श्लेष के रूप को स्पष्ट झलका रहे हैं। अर्थश्लेष और शब्दशक्त्युद्भवध्वनि में स्पष्ट भेद होता है, प्रदीपकार ने लिखा है—

यत्रोभयोरर्थयोस्तात्पर्यं स श्लेषः। यत्र त्वेकास्मिन्नेव तत् सामग्रीमहिम्ना तु द्वितीयार्थ-प्रतीतिः सा व्यंजनेति ॥

रूपक अलंकार का निरूपण

प्रश्न ३२—'विश्वनाथ कविराज का रूपक-निरूपण प्राचीन अलंकारिकों की परम्परा में है।' इस कथन की सोदाहरण समीक्षा कीजिए।

उत्तर—रूपक अलंकार की परिभाषा साहित्यदर्पणकार ने इन शब्दों में प्रस्तुत की है—

रूपकं रूपितारोपाद्विषो विषये निरपह्नवे।

अर्थात् रूपक वह अलंकार है जिसे विषयी अथवा उपमान द्वारा अनपह्नुत (न छिपाये गए) विषय (आरोप विषय-उपमेय) पर विषयी (उपमान) का अभेदारोप कहा जाता है।

अलंकार सर्वस्वकार रूय्यक ने रूपक की इस व्युत्पत्ति में ही रूपक' का स्वरूप बता दिया है—

विषयिणा विषयस्य रूपवतः करणाद रूपकम्।

एकावली की यह रूपक व्युत्पत्ति भी युक्तियुक्त ही है—यदा तु विषयी विषयं रूपयति रूपवन्तं करोति तदान्वर्थाभिधानं रूपकम्।'

विश्वनाथ ने रूप के तीन प्रमुख प्रकार इस प्रकार बताए हैं: (१) परम्परित (२) साङ्ग और (३) निरङ्ग। 'साङ्ग रूपक को 'सावयव' तथा 'निरङ्ग' का 'निरवयव' भी कहा गया है। साङ्गरूपक का अभिप्राय है 'उपमेय का ऐसा रूपण जिसमें उसके अवयव भी रूपित हुआ करें। निरङ्ग अथवा निरवयव रूपक का तात्पर्य है कि अवयवरहित उपमेय का उपमान से तादात्म्यरोप। परम्परित रूपक का अर्थ है एक के तादात्म्यरोप के कारण अन्य का तादात्यारोप।

विश्वनाथ ने परम्परित रूपक की परिभाषा देते हुए उसके भेदों का भी सङ्केत किया है—

यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम्।
तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ॥१०।२९
प्रत्येकं केवलं मालारूपं चेति चतुर्विधम्।

अर्थात् परम्परित रूपक वह रूपक है जिसमें एक का अभेदारोप दूसरे के अभेदारोप के कारण हुआ करता है । इसके दो भेद हैं—

(१) श्लिष्टशब्दनिबन्धपरम्परित और

(२) अश्लिष्टशब्दनिबन्धपरम्परित ।

इन दोनों के भी दो-दो भेद हैं जिन्हें 'केवल' और 'माला' कहते हैं ।

इनमें श्लिष्टशब्दनिबन्ध केवल परम्परित रूपक का उदाहरण इस प्रकार है—'हे नृसिंह महीपाल ! हे महापराक्रमी महाराज ! संग्राम में प्रचण्ड-बलशाली राजमण्डलरूपी चन्द्रमा के लिए राहू स्वरूप आपका भुजदण्ड सदा विजयी हो ।'

यहाँ राजमण्डल (राजसमूह और चन्द्रबिम्ब) शब्द श्लिष्ट है तथा दोनों अर्थ विषय और विषयीरूप एक दूसरे पर अरोपित हैं ।

श्लिष्ट शब्द निबन्ध माला परम्परित का उदाहरण 'हे महाराज ! इस जगतीतल पर आप ही एक ऐसे हैं जो पद्मोदय (ऐश्वर्य पराकाष्ठा) रूप पद्मोदय (कमलविकास) के लिये सूर्य रूप, सदागति (सज्जनागम) रूप सदागति (निरन्तर विचरण) के लिये पवन रूप और भूभृदावलि (राज वर्ग) रूप भूभृदावलि (पर्वतसमूह) के लिए वज्ररूप से सदा विराजमान हैं ।

यहाँ पद्मोदय, सदागति और भूभृदावलि पद श्लिष्ट हैं ।

इसी प्रकार अश्लिष्ट शब्दनिबन्धपरम्परित रूपक के भी 'माला' और 'केवल' दो भेद हैं ।

विश्वनाथ ने साङ्गरूपक का स्वरूप एवं प्रकार इस प्रकार बताया है—

> **अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत् ।।१०।३०**
> **समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ।**

अर्थात् रूपक का द्वितीय भेद साङ्गरूपक वह रूपक है जिसमें अङ्गों के रूपण के साथ-साथ अङ्गी का रूपण हुआ करता है । इसके दो भेद हैं—

(१) **समस्तवस्तु विषय**—जिसमें कवि निरूपित समस्त आरोप्यमाण उपमान शब्दतः उपात्त रहा करते हैं ।

(२) **एकदेशवर्ति**—जिसमें किसी न किसी अङ्ग से सम्बद्ध कोई न कोई आरोप्यमाण (उपमानभूत चन्द्र आदि) पदार्थ शब्दतः प्रतिपादित न होकर अर्थलभ्य रहा करता है ।

निरंग रूपक का निरूपण करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है—

निरंग केवलस्यैव रूपणं तदपि द्विधा।
मालाकेवलरूपत्वात्।

रूपक का तृतीय भेद निरंग रूपक वह रूपक है जिसमें अंगी रूप से अवस्थित आरोप्यमाण (उपमान) का ही अभेदारोप हुआ करता है। यह भी दो प्रकार का है—

(१) **माला निरंग रूपक**—उदाहरण 'यह कमलनयनी सुन्दरी विधाता की निर्माण चातुरी है, लोकनेत्र की चन्द्रिका है और अनंग की विलास-भूमि है।'

यहाँ रूपक की 'निरंगता' और 'मालारूपता' इसलिये है क्योंकि कवि ने यहाँ अपने प्रधान वर्ण्य-विषय 'सुन्दरी' का ही तीन-तीन आरोप्यमाण पदार्थों जैसे कि 'निर्माणचातुरी', 'चन्द्रिका' और 'विलासभूमि से तादात्म्यारोप स्थापित किया है, न कि इससे सम्बद्ध अंगों का भी।'

(२) **केवल निरंग रूपक**—सांगरूपक में तो परस्पर सापेक्ष रूपक-संघात का दर्शन हुआ करता है किन्तु निरंग रूपक रूपक-संघात की सापेक्षता से शून्य हुआ करता है।

विश्वनाथ ने रूपक के आठ भेद आलंकारिकों की परम्परा में ही किये हैं। उनका रूपक-विभाजन आचार्य रूय्यक और आचार्य मम्मट के रूपक-विभाजन का अनुसरण करता है। आचार्य रूय्यक ने 'अष्टविध' रूपक का यह उल्लेख किया है—

इदं तु निरवयवं सावयवं परम्परितमिति त्रिविधम्।
आद्य केवलं मालारूपकं चेति द्विधा द्वितीयं।
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति द्विधैव।

तृतीय श्लिष्टाश्लिष्ट शब्द निबन्ध नत्वेन द्विविध सत् केवल-मालारूपकत्वाच्चतुर्विधम्। तदेवमष्टो रूपकभेदः। (अलङ्कारसर्वस्व)

विश्वनाथ ने अलङ्कारसर्वस्वकार के रूपक-वैचित्र्य के आधार पर रूपक-वैचित्र्य का निरूपण किया है। उन्होंने लिखा है कि अष्टविध रूपक प्रकार के अन्यविध भी वैचित्र्य काव्य-साहित्य में दृष्टिगत हुआ करते हैं जैसे कि कहीं-कहीं परम्परित रूपक में एकदेश वर्तिता और कहीं एकदेशवर्ति रूपक में 'माला' रूप की सम्भावना।

निष्कर्ष—साहित्यदर्पण का रूपक निरूपण प्रायः प्राचीन आलङ्कारिकों की परम्परा में है। पण्डितराज जगन्नाथ का रूपक-निरूपण विश्वनाथ के रूपक-निरूपण से प्रभावित है।

निदर्शना अलंकार का निरूपण

प्रश्न ३३—आचार्य विश्वनाथ द्वारा निरूपित निदर्शना अलंकार एवं उसके प्रमुख भेदों की सोदाहरण विवेचना कीजिए।

उत्तर—निदर्शनालङ्कार का निरूपण करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है—

सम्भवन वस्तु सम्बन्धोऽसम्भवन् वाऽपि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ।।१०।५१

अर्थात् 'निदर्शना वह अलङ्कार है, जिसे सम्भव अथवा असम्भव उपपन्न अथवा अनुपपन्न वस्तु सम्बन्ध अर्थात् दो वाक्यार्थों के परस्परान्वय में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव (सादृश्य) की झलक कहा करते हैं।

उपपन्न अथवा अबाधित वाक्यार्थों के परस्परान्वय में, बिम्बप्रतिबिम्बभाव की झलक में जो निदर्शना होती है, उसे 'सम्भवद्वस्तु सम्बन्धनिदर्शना' कहा करते हैं। इसका उदाहरण है—

कोऽत्र भूमिवलये जनान् मुधा तापमन् सुचिरमेति सम्पदम्।
वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं ततः ।।

अर्थात् 'इस संसार में ऐसा कौन है जो व्यर्थ के लिए लोगों को पीड़ा पहुँचावे और सम्पदाओं का उपभोग करता रहे। वस्तुतः इसी बात को सूचित करते हुए दिन भर के बाद ही सूर्य अस्ताचल की ओर चला जाया करता है।'

यहाँ वस्तु सम्बन्ध की संभाव्यता अथवा उपपत्ति स्पष्ट है। कारण यह है कि यहाँ इस प्रकार के आशय अर्थात् 'इस संसार में दूसरों को दुःख देने वाले बहुत दिन तक सुखी नहीं रह सकते' आदि के सूचित करने में 'सूर्य' को जो वक्तारूप से वर्णित किया गया है, उसमें कोई अनुपपत्ति नहीं दिखाई देती क्योंकि जबकि 'सूर्य' के लिये 'अस्ताचल की ओर चल पड़ने' के सामर्थ्य का निर्देश किया हुआ है, तब तो इस प्रकार के अभिप्राय के 'वेदन' में भी उस (सूर्य) का सामर्थ्य युक्तियुक्त ही है। यहाँ इस प्रकार, सूर्य का, वक्तृत्व-क्रिया से, यह सम्बन्ध, अन्ततोगत्वा, 'सूर्य के अस्ताचल की ओर चले जाने' और 'अत्याचारी लोगों के विपत्ति में पड़ने' इन दोनों वाक्यार्थों में बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव (सादृश्य) की स्थापना करता प्रतीत हो रहा है।

निदर्शना के दो प्रकार और हैं—

(१) **एकवाक्यगा**—एक वाक्य में ही होने वाली—

कलयति कुवलय मालाललितं कुटिलः कटाक्षविक्षेपः ।
अधरः किसलयलीला माननमस्याः कलानिधेर्विलासम् ।।

अर्थात् 'इस सुन्दरी के कुटिल कटाक्ष नीलकमलों की माला के विलास अपनाये हुए हैं, इसका अधरोष्ठ ऐसा है जो कोमल पल्लव की लीला धारण किया करता है, और इसका मुख तो चन्द्रमा के विभ्रमविलास से पूर्ण है ही ।"

यहाँ एक वाक्य में ही दो धर्मिओं का सादृश्य निदर्शन है, जिससे यहाँ 'एकवाक्यगा' असम्भवद्वस्तुसम्बन्ध निदर्शना का स्वरूप दिखाई दे रहा है ।

(२) **अनेकवाक्यगा**—एक से अधिक वाक्यों में होने वाली—

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्लमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ।।

अर्थात् 'अरे ! इस निसर्ग सुन्दर शकुन्तला के शरीर को, जिस ऋषि ने, तपस्या के कष्टों के सहन करने में समर्थ बनाना ठान लिया है, उसने सचमुच, नीलकमल के किसलय की कोर से शमीवृक्ष के काटने का निश्चय कर लिया है ।'

यहाँ 'तपस्या के कष्टों के सहन करने में समर्थ बनाने' और 'शमीवृक्ष के काटने'—इन दोनों वाक्यार्थों में, जोकि 'यः' और 'सः' पदों से सम्बद्ध रूप से रचे गए हैं, परस्पर अभेदरूप से अन्वय अनुपपन्न है किन्तु अन्ततोगत्वा इनमें इस प्रकार के 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' (सादृश्य) का दर्शन हो जाता है कि 'कोमलांगी शकुन्तला के शरीर को तपःसाधन में समर्थ बनाने की इच्छा' ऐसी है जो कि 'नीलोत्पलपत्र की धार से शमीवृक्ष के काटने की इच्छा' के समान है । इस प्रकार इन दोनों वाक्यार्थों का अन्वय संगत बन जाता है ।

विश्वनाथ का कथन है कि निदर्शना माला रूप में भी पायी जाती है । उन्होंने स्वरचित काव्य से एक उदाहरण प्रस्तुत किया है, देखिए—

क्षिपसि शुकं वृषदंशकवदने मृगमर्पयसि मृगादनरदने ।
वितरसि तुरंगमहिषविषाणे निदधच्चेतो भोगवितानेे ।।

अर्थात् 'अरे ! तुम जो अपने मन को सांसारिक भोग-विलास में रमा रहे हो, याद रक्खो, तोते को बिलाव के मुख में फेंक रहे हो, हिरन को बघेरे के जबड़ों में डाल रहे हो और घोड़े को भैंसे की सींगों पर रख रहे हो ।'

जब तक बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव (सादृश्य) की स्थापना न हो जाय तब तक वाक्यार्थ में विश्रान्ति नहीं आ सकती।

दृष्टान्त और निदर्शना का भेद—निदर्शना में तो बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव के आक्षेप के बिना वाक्यार्थ ही विश्रान्त नहीं हुआ करता किन्तु 'दृष्टान्त' में वाक्यार्थ की विश्रान्ति के बाद, सामर्थ्यवश बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का आक्षेप अथवा प्रत्यायन हुआ करता है।

अलङ्कार-सर्वस्वकार का कथन है कि द्रष्टान्त तो स्वतन्त्र रूप से अवस्थित दो वाक्यार्थों का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है किन्तु **निदर्शना** तब होती है जबकि प्रकृत वाक्यार्थ पर अप्रकृत वाक्यार्थ के समानाधिकरण्य पूर्वक आरोप में, दोनों में, सम्बन्ध की अनुपपत्ति के निवारण के लिये, सादृश्य कल्पना की जाया करती है।

निदर्शना और अर्थापत्ति का भेद—निदर्शन के लिए बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव अनिवार्य है किन्तु अर्थापत्ति के लिए बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव अथवा सादृश्य में वाक्यार्थ की विश्रान्ति अपेक्षित नहीं है।

विश्वनाथ ने अलङ्कारों का निरूपण दशम परिच्छेद में अवशिष्ट काव्य-तत्त्व के रूप में किया है।

रसवत्, प्रेय, उर्जस्वि और समाहित अलंकार

प्रश्न ३४—रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों का साहित्य-दर्पणकार द्वारा किया हुआ निरूपण प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—'रसवत्', 'प्रेय', ऊर्जस्वित' और 'समाहित' अलङ्कारों को आचार्य विश्वनाथ ने क्रमशः 'रस', 'भाव', 'रसाभास-भावाभास' तथा 'भावप्रशम' के अंगरूप से अवस्थान में देखा है। उन्होंने लिखा है—

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदाऽलंकृतयस्तदा ॥ १०।९५
रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितमिति क्रमात्।

यहाँ तदाभासौ का अभिप्राय 'रसाभास' और 'भावाभास' दोनों से है।

रसवत् अलंकार—जिसमें अंगरूप से अवस्थित रस रहा करता है इस सूक्ति में स्पष्ट है—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः। —नाभ्यूरूज
घनस्पर्शी नीवी विस्रंसनः करः॥

यहाँ श्रृंगार रस करुण रस के अंगरूप से उपनिबद्ध है, अतः यहाँ रसवत् है। इसी प्रकार अन्य रसों की अंगता में भी 'रसवत्' अलङ्कार देखा जा सकता है।

प्रेय अलंकार—प्रेय जिसे काव्याचार्यों का अत्यधिक आवर्जक अथवा सहृदय का अत्यधिक मनोरंजक अलङ्कार कहा करते हैं, निम्नांकित विश्वनाथ द्वारा रचित सूक्ति में दिखायी दे रहा है—

आमीलितालसविवर्तिततारकांक्षीं
मत्कण्ठबन्धनदरश्लथबाहुवल्लीम् ।
प्रस्वेदवारिकाणिकचित्तगण्डबिम्बां
संस्मृत्य तामनिशमेति न शान्तिमन्तः ।।

अर्थात् 'अधुखुली' अलसायी किंवा कनीनिका की चञ्चलता से भरी आँखों वाली, मेरे द्वारा आलिंगित होने पर प्रत्यालिंगन में शिथिल भुजलता वाली, कपोलों पर पसीने की बूँदें झलकाती, उस सुन्दरी की जब याद आती है तो मेरा हृदय रह-रह कर, उद्विग्न हो उठता है।'

यहाँ सम्भोग श्रृंगार स्मृति रूप भाव का अधिकाधिक परिपोषक होने से अंगरूप से उपनिबद्ध है और स्मृति रूप व्यभिचारिभाव, अन्ततोगत्वा, अंगिरस 'विप्रलम्भ श्रृंगार' के उत्कट रूप से उद्दीपक होने के कारण, अंगरूप से ही उपनिबद्ध पड़ा है। अतः यहाँ 'प्रेय' अलङ्कार है।

ऊर्जस्वित अलंकार—'ऊर्जस्वी' जिसका अभिप्राय वह अलङ्कार है जिसमें अनौचित्य प्रवृत्त रस और भाव (रसाभास और भावाभास) रूप 'ऊर्ज' अथवा 'बल' विद्यमान रहा करता है, इस सूक्ति में दर्शनीय है—

वनेऽखिलकलासक्ताः परिहृत्य निजस्त्रियः ।
त्वद्वैरिवनितावृन्दे पुलिन्दाः कुर्वते रतिम् ।

अर्थात् 'राजन् ! जंगलों के भील, अपनी-अपनी कलावती स्त्रियों को छोड़कर अब आपकी शत्रु-रमणियों के प्रेम में पागल हो रहे हैं।'

यह 'ऊर्जस्वित्' अलङ्कार इसलिए है क्योंकि यहाँ राजविषयक 'रति' भाव के अंगरूप से अवस्थित 'श्रृंगाराभास' का 'ऊर्ज' अथवा बल स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार राजादिविषयक रतिभाव के अंगरूप से उपनिबद्ध 'भावाभास' रूप 'ऊर्ज' के कारण जो 'उर्जस्वी' अलङ्कार हुआ करता है उसका उदाहरण स्वयं देखा जा सकता है।

समाहित अलंकार—समाहित जिसे किसी भाव के परिहार या प्रशमन (भावशान्ति अथवा भाव की प्रशाम्यदवस्था) के अंगरूप से उपनिबन्धन में देखा जाया करता है, इस सूक्ति में स्पष्ट है—

अविरलकरवाल कम्पनैर्भ्रकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।
ददृशे तव वैरिणांमदः सगतः क्वापितवेक्षणेक्षणात् ।।

अर्थात् 'राजन् ! आपके शत्रुओं का वह मद जो पहले उनकी तलवारों के चमकाने और भौंहों के तरेरने और तर्जन-गर्जन में दिखाई पड़ता रहा, अब, आपके सामने आने पर, पता नहीं, क्षणभर में कहाँ गायब हो गया।'

यहाँ 'समाहित' अलङ्कार इसलिए है, क्योंकि राजविषयक रतिभाव के अङ्गरूप से उपनिबद्ध 'मद' की प्रशाम्यदवस्था' (भावशान्ति) का सौन्दर्य स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

मम्मट से मतभेद—साहित्यदर्पणकार ने मम्मट के काव्यप्रकाश की मान्यताओं का पग-पग पर खण्डन किया है। उन्होंने यहाँ 'रसवत्' आदि अलङ्कार चतुष्ट्य का निरूपण इसीलिए किया है, ताकि मम्मट से उनकी नवीनता झलक उठे। मम्मट ने तो 'रसवत्' आदि को अलङ्कार ही नहीं माना है, क्योंकि वे आनन्दवर्धन की यह मान्यता सर्वथा मानते हैं, कि रस, भाव आदि अलंकार्य हैं, अलंकार नहीं। रस 'भाव आदि की अङ्गभूत से योजना 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' का विषय है, न कि 'अलङ्कार' अथवा वाच्य-वाचक-वैचित्र्य का। मम्मट के अनुसार रसवदादि चतुष्ट्य 'अपराङ्गव्यङ्ग्यगुणीभूत-व्यंग्य काव्य' के रूप हैं। साहित्यदर्पणकार भी रसध्वनिवादी आचार्य हैं, और गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' के अपराङ्गव्यङ्ग्य' रूप प्रभेद में 'रसवत्' आदि को अन्त-र्भूत सा भी दिखा चुके हैं, जैसा कि इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

इतरस्य रसादेरङ्गं रसादिव्यङ्ग्यम् ।

किन्तु अलंकार निरूपण के प्रसंग में पुनः 'रसवत्' आदि का अलंकार रूप में प्रदर्शन करना कुछ विचित्र सा लगता है। वस्तुतः साहित्यदर्पणकार ने यहाँ अलङ्कार सर्वस्व और विमर्शिनी की विचारधाराओं का अनुसरण किया है। (डा० सत्यव्रतसिंह)। अलङ्कार सर्वस्वकार का कथन है, कि 'विभावादि द्वारा अभिव्यक्ति रत्यादिरूप चित्तवृत्ति विशेष तो 'रस' है, और जिसे 'रसवत्' अलङ्कार कहा करते हैं, वह कवि की एक विचित्र वर्णना है, जिसमें 'रस' रहा करता है। इसी प्रकार 'प्रेय' 'उर्जस्वि', और समाहित भी इसीलिए अलङ्कार

हैं, क्योंकि ये भी कवि के ऐसे वर्णना-वैचित्र्य रूप हैं, जिनमें 'भाव', 'रसाभास-भावाभास' तथा 'भावप्रशम' रहा करते हैं।

पताकास्थानक का स्वरूप तथा प्रकार

प्रश्न ३५—नाटक के इतिवृत्ति में पताकास्थानक योजना क्या होती है? इसके स्वरूप तथा प्रकारों का विवेचन कीजिए।

उत्तर—रूपक के दो प्रकार के वृत्त होते हैं—

(१) आधिकारिक वृत्त—वह जिसे कवि रूपक प्रबन्ध-व्यापी बनाया करता है—

अधिकारः सर्वत्रानुयायित्वम् हृदयानु यायित्वं प्रयोजनमस्य (तत्)।

—अभिनवभारती

(२) प्रासंगिक इतिवृत्त—यह आधिकारिक वृत्त का ही उपस्कारक वृत्त हुआ करता है—

प्रसिक्तिर्हि प्रसङ्गः तत आगतं प्रासंगिकं, प्रसज्यते,
वा प्रधानफलनिष्पत्तये इति प्रसङ्गस्तत आगतम्।

—अभिनवभारती

इस प्रकार संस्कृत के रूपक-प्रबन्धों में जो कथावस्तु रचना है, उसमें सर्वत्र आधिकारिक और यथावसर प्रासङ्गिक वृत्त का योजना-वैचित्र्य स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

पताका स्थानक की योजना के लिए विश्वनाथ ने लिखा है—

पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि ॥६।४४
इह नाट्ये।
यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥६।४५

अर्थात् रूपक-प्रबन्धों की इतिवृत्त रचना में वैचित्र्य के आधान के लिये कवि के लिये यह अपेक्षित है, कि वह विचारपूर्वक 'पताकास्थानक' की योजना करे। 'इह' पद का तात्पर्य नाट्य-रूपक है। पताकास्थानक वह है, जिसे नाट्य के उस स्थान पर जहाँ नाटककार किसी एक प्रयोजन अथवा उपाय की चिन्ता कर रहा है, उसके समान अन्य प्रयोजन अथवा उपाय की अकस्मात् अतर्कित उपस्थिति हो जाया करती है।

यह एक प्रकार का इतिवृत्त है। इसकी योजना मुख्य इतिवृत्त में वैचित्र्य का आधान किया करती है। 'पताका' और 'पताकास्थानक' दोनों ही इतिवृत्त प्रकार हैं, किन्तु इनमें परस्पर भेद है। 'पताका' रूप वृत्त रूपक-प्रबन्धों के मुख्य वृत्त का उपकारक होने से एक निश्चित स्थान पर और पर्याप्त समय तक निरन्तर चलने वाला वृत्त है, किन्तु पताकास्थानक वह वृत्त है, जो कहीं-कहीं उपनिबद्ध हुआ करता है और नाट्य के सौन्दर्यवर्द्धन के लिए ही उपनिबद्ध हुआ करता है। (डा० सत्यव्रतसिंह)।

विश्वनाथ ने पताकास्थानक के चार भेद माने हैं—

सहसैवार्थ संपत्तिर्गुणवत्युपचारतः।
पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम् ॥६।४६

(१) पहला पताका स्थानक वह है जहाँ सामाजिकों को अकस्मात् अभीष्ट अर्थ का परिचय मिल जाता है, क्योंकि यहाँ कवि एक प्रयोजन तो मन में रखता है और दूसरे का उपनिबन्ध चातुर्य दिखाया करता है। जहाँ अकस्मात् इष्टलाभ की प्रवृत्ति प्रदर्शित होती है, वहाँ पहला पताकास्थानक होता है। इसमें कोई न कोई नायक अवश्य होना चाहिए। अभिनवभारतीकार के अनुसार दैवयोग और देशकाल विशेष के कारण नायक के जो भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं उनमें से किसी एक रूप में, वह स्वयं इस वृत्त-भेद का नायक हो जाया करता है।

(२) दूसरा 'पताकास्थानक' वह है, जहाँ प्रकृत विषय की वर्णना में ऐसा श्लिष्ट वचन-विन्यास किया हुआ रहता है, जो अप्रकृत के भी उपयुक्त हो जाता है और एक चमत्कार की सृष्टि कर जाता है—

वचः सातिशयं श्लिष्टं नानाबन्ध समाश्रयम्।
पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्त्तितम् ॥६।४७

विश्वनाथ की यह परिभाषा भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में दी हुई परिभाषा का ही परिवर्तित रूप है। विश्वनाथ ने नाटचशास्त्र के 'काव्यबन्ध समाश्रयम' के स्थान पर 'नानाबन्धसमाश्रयम्' पद रखा है। 'नानाबन्ध' से उनका अभिप्राय अतिश्योक्ति, समासोक्ति आदि आदि अर्थयोजना प्रकारों का ही अभिप्राय है।

(३) तीसरा पताकास्थानक वह है जिसमें ऐसे प्रस्तुत संबद्ध श्लिष्ट प्रत्युत्तर की योजना हुआ करती है जिससे अस्फुट भी अभिप्रेत किंवा प्रस्तुत अर्थ का निश्चय हो जाया करता है— ११

अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत् ।
श्लिष्ट प्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते ।।६।४८

यहाँ लीनम् का अभिप्राय अस्फुट अर्थ है, 'श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतम्' का तात्पर्य प्रस्तुत अर्थ से सम्बन्ध योग्य अन्य अप्रस्तुत अर्थ युक्त प्रत्युत्तर का है, और सविनयम् का अर्थ विनय अथवा विशेष निश्चय से युक्त है। इस प्रकार तृतीय पताकास्थानक विचित्र वर्णन से युक्त हुआ करता है।

(४) चौथा पताकास्थानक वह है, जहाँ ऐसे द्वयर्थक वचन का उपन्यास हुआ करता है, जो मुख्य अभिप्राय से भिन्न अभिप्राय का प्रत्यायन तो कराता ही है, साथ ही साथ रूपक-प्रबन्ध के इतिवृत्त के भी उपयुक्त बन जाता है—

द्वयर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः ।
प्रधानार्थान्तरापेक्षी पताकास्थानकं परम् ।।६।४९

उदाहरण—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भाँ क्षणा-
दायासं श्वसनोद्‌गमैर विरलैरातन्वती मात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ।।

—रत्नावली नाटिका

इस उदाहरण को दशरूपककार ने तो पताकास्थानक माना है क्योंकि यहाँ 'तुल्यविशेषण' की महिमा से भावी वृत्त का उपक्षेप किया जा रहा है। किन्तु अभिनवभारतीकार ने इसमें 'व्याहार' नामक वीथ्यङ्ग का उदाहरण देखते हुए पताकास्थानक की कल्पना का खण्डन भी किया है।

उपर्युक्त चार प्रकार के पताकास्थानकों का निरूपण किया गया। इनकी योजना रूपक प्रबन्धों की सभी सन्धियों में हो सकती है। कहीं इनकी योजना से मङ्गलाशंसा हुआ करती है, और कहीं अमङ्गलाशंसा। इनकी योजना रूपककार की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर है। आवश्यकतानुसार इन्हें कई बार भी उपनिबद्ध किया जा सकता है।

कुछ नाट्याचार्यों का कथन है कि 'चार पताकास्थानक होने के कारण इनकी योजना 'मुख' सन्धि से प्रारम्भ कर 'विमर्श' सन्धि तक ही क्रमशः की जानी चाहिये।' किन्तु अन्य नाटचमर्मज्ञ इस नियम को नहीं मानते। उनका कथन है कि पताकास्थानक तो नाटच-प्रबन्ध के लिये अत्यन्त आवश्यक तत्त्व

है और इसलिये सभी सन्धियों में सभी प्रकार के पताकास्थानकों की योजना हो सकती है, न कि प्रथम सन्धि में प्रथम और द्वितीय में दूसरे की। अभिनव-भारतीकार ने भी इस 'अनियम' का ही समर्थन किया है।

स्वीया नायिका: स्वरूप एवं भेद

प्रश्न ३६—स्वीया नायिका के स्वरूप एवं भेदों का निरूपण साहित्यदर्पण के आधार पर कीजिए।

उत्तर—विश्वनाथ ने नायिका के तीन भेद बताए हैं—स्वीया, परकीया और सामान्या। उन्होंने स्वीया नायिका का निरूपण इस प्रकार किया है—

विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया।

अर्थात् 'वह स्त्री, जिसमें नम्रता और सरलता आदि गुण रहा करते हैं, जो गृहकर्म में तत्पर रहा करती है और पतिव्रता हुआ करती है, 'स्वीया' नायिका मानी जाया करती है। उदाहरण के लिए यह सूक्ति देखिए—

लज्जा पर्याप्त प्रसाधनानि परभर्तृनिष्पिपासानि।
अविनयदुर्मेधानि धन्यानां गृहे कलत्राणि॥

अर्थात् 'कुछ विरले व्यक्ति ही ऐसे भाग्यशाली हुआ करते हैं, जिनकी पत्नियाँ अपनी स्त्रीसुलभ लज्जा को ही अपना एकमात्र अलङ्कार माना करती हैं, अपने हृदय में दूसरी स्त्रियों के पतियों के प्रेम की प्यास नहीं रखा करतीं और अपने व्यवहार में किसी प्रकार के भी अविनय (अनाचार) का किञ्चिन्मात्र भी परिचय नहीं दिया करतीं।

डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है—'संस्कृत काव्य साहित्य में नायिका-चित्रण पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। आलंकारिकों ने कवियों और नाटककारों के द्वारा चित्रित नायिकाओं के स्वरूप एवं प्रकार का विशद विवेचन किया है। काव्य-साहित्य में 'स्वीया' नायिका का चित्रण वर्णाश्रम-व्यवस्था की मर्यादा के अनुसार किया गया है। 'स्वीया'—चित्र में रतिभाव की बड़ी मर्मस्पर्शी किंवा मधुर अभिव्यक्ति हुई है। 'स्वीया'—चित्र का उद्देश्य रसास्वाद के साथ-साथ सरसोपदेश हैं। प्रेम की नाना प्रकार की झाँकियाँ स्वीया-नायिका के स्वरूपोन्मीलन में दिखायी देती हैं।

स्वीया-वर्णन आदि कवियों और नाटककारों की आदर्श वादिता का संकेत करता है, तो परकीया किंवा सामान्या नायिकाओं का वर्णन उनकी यथार्थ-

वादिता का पर्याप्त प्रमाण है। आदर्श किंवा यथार्थ की प्रवृत्तियाँ संस्कृत-काव्य साहित्य में परस्पर विरुद्ध नहीं अपितु एक दूसरे की पूरक मानी गयी हैं।'

विश्वनाथ ने स्वीया नायिका के निम्नांकित तीन प्रकार माने हैं—

(१) मुग्धा—वह स्वीया नायिका मुग्धा मानी जाती है, जिसके शरीर में यौवन अवतरित हो चुका हो, जिसके मन में काम का उन्मेष प्रारम्भ हो रहा हो, जिसे रतिलीला में झिझक होती हो, जिसका प्रणयकोप कोमलता लिये हो और जो अपनी लज्जाशीलता के कारण प्रेम-प्रकाशन में विवश रहा करे—

प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा।
कथितामृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥३।५८

इस प्रकार मुग्धा के इन भेदों का निरूपण विश्वनाथ ने किया है—

(१) प्रथमावतीर्णयौवना मुग्धा
(२) प्रथमावतीर्णमदनविकारा मुग्धा
(३) रतिवामा मुग्धा
(४) मृदुमानवती मुग्धा
(५) समधिकलज्जावती मुग्धा

डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है, कि 'साहित्यदर्पणकार ने 'मुग्धा' नायिका के कतिपय भेदों का जो परिगणन किया है, वह संस्कृत काव्य-साहित्य में वर्णित 'मुग्धा' स्वभाव का ही विश्लेषण है। प्राचीन आलंकारिकों ने, जैसे कि आचार्य हेमचन्द्र ने ही, स्वीया नायिका के 'मुग्धा' स्वरूप का नियामक, शरीर की एक विशिष्ट अवस्था किंवा कामोपचार-सम्बन्धी निपुणता की विशिष्ट दशा को ही माना है—

वय: कौशलाभ्यां मुग्धा मध्या प्रौढेति सा त्रेधावय: शरीरावस्थाविशेषा, कौशलं कामोपचार नैपुणम् ताभ्यां मुग्धा। (काव्यानुशासन अ० ७ सू० २३)। यही बात भावप्रकाशनकार आचार्य शारदातनय (१३वीं शताब्दी) की इन पंक्तियों में भी स्पष्ट है—

शीलसत्यार्जवोपेता रह:संभोगलालसा।
मुग्धा नववय:कामा रतौ वामा मृदु:क्रुधि।
यतते रतिचेष्टासु पत्युर्व्रीडामनोहरम्।
अपराधे रुदत्येव न वदत्यप्रियं प्रिये ॥'

(भावप्रकाशन चतुर्थ अधिकार)

वस्तुतः तो रतिक्रीडा में अनभिज्ञता किंवा यौवनादि के क्रमिक विकास आदि-आदि संवलित रूप से ही 'मुग्धा' के व्यक्तित्व के परिचायक हैं, और इस दृष्टि से इनको पृथक्-पृथक् करके मुग्धा-भेद का नियामक बनाना ठीक नहीं किन्तु तब भी साहित्यदर्पणकार ने इनके आधार पर जो मुग्धा भेद निर्दिष्ट किया है, उसका एक विशेष कारण है, और वह कारण एक शब्द में आलंकारिकों की विभाजन किंवा पारिभाषिकता-प्रवृत्ति ही है, जिसका विकास साहित्यदर्पणकार के लिए सम्भव नहीं हो सका है।'

(२) विश्वनाथ ने मध्या स्वीया—नायिका का निरूपण इस प्रकार किया है—

मध्या विचित्रसुरता प्ररूढस्मर यौवना।
ईषत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीडिता मता ॥३।५९

अर्थात् मध्या वह स्वीया नायिका है, जो रंग-विरंग की रतिलीलाओं में निपुण हो चुकी होती है, जिसमें काम-पिपासा बढ़ती दिखायी दिया करती है, जिसका यौवन उभार पर रहा करता है, जिसे प्रणयालाप में कोई विशेष हिचक नहीं हुआ करती और जिसकी रति-लज्जा बहुत अधिक नहीं रहा करती।

विश्वनाथ ने मध्या के निम्नलिखित भेद माने हैं—

(१) विचित्रसुरता मध्या
(२) प्ररूढयौवना मध्या
(३) ईषतप्रगल्भ वचना मध्या और
(४) मध्यमव्रीडिता मध्या

(३) प्रगल्भा स्वीया—स्वीया का तीसरा भेद प्रगल्भा है। विश्वनाथ ने इसका निरूपण इन शब्दों में किया है—

स्मरान्धा गाढतारुण्या समस्तरतकोविदा।
भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका ॥३।६०

अर्थात् वह स्वीया नायिका, जिसमें स्मरोन्माद बढ़ती पर हो, जिसका यौवन पूरे उभार पर पहुँच गया हो, जिसमें रतिलीला के समस्त कौशल समा चुके हों, जिसके हाव-भाव पूर्ण रूपेण विकसित हो चुके हों, जिसमें रति-लज्जा की थोड़ी ही मात्रा बच गयी हो और वस्तुतः जो रतिलीला में नायक को भी पछाड़ने की शक्ति रखने लगी हो, प्रगल्भा नायिका कही जाया करती है।

विश्वनाथ ने प्रगल्भा के निम्नांकित भेद किये हैं—

(१) स्मरान्धा प्रगल्भा स्वीया नायिका

(२) गाढतारुण्या प्रगल्भा स्वीया नायिका

(३) समस्त रतकोविदा प्रगल्भा स्वीया नायिका

(४) भावोन्नत प्रगल्भा स्वीया नायिका

(५) स्वल्पव्रीडा प्रगल्भा स्वीया नायिका

(६) आक्रान्तनायका प्रगल्भा स्वीया नायिका

विश्वनाथ ने मध्या और प्रगल्भा दोनों के कुछ अन्य भेदों का भी निर्देश किया है—

(१) मध्या धीरा

(२) मध्या अधीरा

(३) मध्या धीरा-धीरा

(४) प्रगल्भा धीरा

(५) प्रगल्भा अधीरा

(६) प्रगल्भा धीरा-धीरा

प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्या धीरा दहेद्रुषा ।
धीराधीरा तु रुदितैरधीरा परुषोक्तिभिः ।।३।६१

अर्थात् 'मध्या नायिकाओं में धीरा वह नायिका है, जो अपने प्रियतम पर अपना क्रोध खरीखोटी सुनाकर प्रकट किया करती है । मध्या 'धीराधीरा' की पहचान यह है कि अपने प्रियतम पर यह अपना क्रोध रो-धोकर निकाला करती है और अधीरा मध्या वह है जो कर्कश वचनों से अपने प्रेमी को चोट पहुँचाया करती है ।

प्रगल्भा धीरा नायिका वह है, जो बनावटी हँसी में अपना क्रुद्ध स्वरूप छिपाया करती है, अपने प्रेमी पर बनावटी प्रेम दिखाया करती है और अपने प्रेमी के साथ रति-प्रसंग में उदासीन रहा करती है। प्रगल्भा धीराधीरा नायिका वह है, जो कि अपने तानों और झिड़कियों से नायक को दुःखी बनाती रहती है । अधीरा प्रगल्मा नायक को डराती धमकाती और मारती-पीटती रहती है । मध्या और प्रगल्भा के ६ भेदों के ज्येष्टता और कनिष्ठता नामक दो-दो भेद होने से १२ भेद हुए और एक भेद मुग्धा का इस प्रकार स्वीया के कुल १३ भेद हुए । दशरूपककार ने भी स्वीया के तेरह भेद माने हैं ।

नायिकाओं का अवस्थानुसारी भेद

प्रश्न ३७—आचार्य विश्वनाथ द्वारा अवस्था भेद से नायिकाओं के भेदों का सोदाहरण निरूपण कीजिए।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने नायिकाओं के तीन प्रमुख भेद बताए हैं—स्वीया, परकीया और साधरणी। इनमें स्वीया नायिका तेरह प्रकार की होती हैं, परकीया दो प्रकार की और सामान्या एक प्रकार की। नायिकाओं के इन १६ प्रकारों के भी अवस्थाभेद से विश्वनाथ कविराज ने आठ-आठ भेद बताए हैं। जैसा कि—स्वाधीनभर्तृका, खण्डिता, अभिसारिका, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका, वासकसज्जा और विरहोत्कण्ठिता।

अवस्थीमर्भवन्त्यष्टावेता: षोडशभेदिता:।
स्वाधीनभर्तृका तद्वत्खण्डिताऽथाभिसारिका।। ३।७२
कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितभर्तृका।
अन्या वासकसज्जा स्याद्विरहोत्कण्ठिता तथा।। ३।७३

स्वाधीनभर्तृका नायिका का निरूपण साहित्यदर्पणकार ने इन शब्दों में किया है—

कान्तोरतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम्।
विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका।। ३।७४

अर्थात् स्वाधीनभर्तृका वह नायिका मानी जाती है जिसका प्रणयी उसके प्रेम की डोर में बँधा हुआ उमें छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त इसकी यह भी विशेषता है कि नायक के प्रति इसके विविध विलास बड़े विचित्र और मनोरंजक हुआ करते हैं।

उदाहरण—

अस्माकं सखि! बाससी न रुचिरे, ग्रैवेयकं नोज्ज्वलं,
नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं, नैवास्ति कश्चिन्मद:।
किन्त्वन्येऽपिजना वदन्ति सुभगोऽप्यस्या: प्रियो: नान्यतो,
दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दु:स्थितम्।।

यह नायिका चित्रण देखिए—(किसी सुन्दरी की अपनी सखी के प्रति उक्ति) अरी सखी! मेरे कपड़े भी सुन्दर नहीं, गले का गहना भी साफ नहीं, चाल में भी अठखेलियां नहीं, हँसी में भी कोई विचित्रता नहीं और न किसी

प्रकार की कोई मस्ती ही है किन्तु तब भी जब कि लोग यह कहते-सुनते दिखायी देते हैं कि सुन्दर भी मेरा प्रेमी मुझे छोड़ और किसी सुन्दरी पर आँख तक नहीं उठाता, तब तो मुझे ऐसा ही लगता है, जैसे मुझे छोड़ सारा संसार ही दुःख में डूबा है।"

भरतमुनि का कथन है कि स्वाधीन भर्तृका नायिका के व्यक्तित्व की यह विशेषता है कि उसका प्रणयी सदा उसके प्रेम का भिखारी बना रहता है और उसके समस्त प्रेम-प्रसंग से उसके प्रेमी के लिये आनन्द का स्रोत उमड़ता रहता है।

खण्डिता का निरूपण विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है—

पार्श्वमेति प्रियोयस्या अन्यसंयोगचिह्नितः।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता॥ ३।७५

अर्थात् काव्य मर्मज्ञ उस नायिका को खण्डिता कहा करते हैं जिसका हृदय अपने प्रेमी के प्रति इसलिये ईर्ष्या से कलुषित हो जाया करता है क्योंकि वह अपनी किसी दूसरी प्रेमिका के साथ अपने प्रेम-सम्भोग को सूचित करने वाली वेष-भूषा में उसके पास आया जाया करता है।

उदाहरण देखिए—

तदवितथमवादीर्यन्ममत्वं प्रियेति,
प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलं दधानः।
मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्री—
र्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन॥

अर्थात् प्रियतम! तुमने तो मुझसे सच ही कहा था कि तुम्हारी एकमात्र प्रेयसी मैं ही हूँ। तभी तो तुम अपनी प्राण-प्रिया (मेरी सपत्नी) के पहने वस्त्र लपेटकर मेरे घर उसे दिखाने आये थे। बात तो ठीक ही है कि तभी प्राण प्यारी का साज-शृङ्गार शोभा देता है जबकि उसे उनकी प्राण-प्यारियाँ देख लें।

अभिसारिका नायिका का वर्णन विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है—

अभिसारयते कान्तं या मन्मथवंशवदा।
स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका॥ ३।७६

अर्थात्—अभिसारिका वह नायिका है जो कि काम के वश में पड़ी या तो अपने प्रणयी को अपने पास बुलाया करती है या स्वयं अपने प्रणयी के पास

हुँचा करती है। अपने प्रेमी को अपने पास बुलाने वाली अभिसारिका का उदाहरण 'शिशुपालवध' से यहाँ प्रस्तुत है—

न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि।
निपुणं तथैनमभिगम्य वदेरभिदूति कंचिदिति संदिदिशे॥

अर्थात् (किसी नायिका ने अपने सामने खड़ी अपनी दूती को कहा)— अरी! तू उसके पास जाना और उससे ऐसी बातचीत करना जिसमें उसे मेरी ीनता (काम परवशता) का भी पता न चल पावे और वह मेरे पास आकर मुझे आनन्दविभोर भी कर दे।"

स्वयं अपने प्रेमी के पास पहुँचने वाली अभिसारिका के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं।

अभिसारिका नायिका के अभिसार के अनेक ढंगों की चर्चा करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है—

संलीना स्वेषु गात्रेषु मूकीकृतविभूषणा।
अवगुण्ठनसंवीता कुलजाऽभिसरेद्यदि॥ ३।७७
विचित्रोज्ज्वलेवेषा तु रणन्नूपुरकङ्कणा।
प्रमोदस्मेरवदना स्याद्वेश्याऽभिसरेद्यदि॥ ३।७८
मदस्खलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना।
आविद्धगतिसंचारा स्यात्प्रेष्याऽभिसरेद्यदि॥ ३।७९

अर्थात् यदि कोई कुलजा (स्वीया) नायिका अभिसार करती है तो लज्जा के भार से दबी दीख पड़ती है, अपने अलङ्कारों को झंकार से बचाती रहा करती है और घूंघट की ओट में अपने आप को छिपाने में लगी रहती है। वेश्या का अभिसार एक और ही ढंग का है। उसकी वेष-भूषा तो रंग-विरंग की होती है, उसके कंकण और नूपुर बजते चला करते हैं और उसके मुख पर आनन्द की हँसी अठखेलियाँ करती दिखायी पड़ा करती है। जिसे 'प्रेष्या' या अनुचरी कहते हैं उसका अभिसार या प्रियमिलन और ही प्रकार का है। कामोन्माद उसकी बातचीत में बेढंगापन भर दिया करता है, विभ्रमविलास उसकी आँखों की हँसी में स्पष्ट झलका करता है और उसकी चाल-ढाल एक विचित्र मस्ती भरी दिखायी दिया करती है।

समिसरण के आठ स्थान अग्रलिखित प्रकार हैं—

खेत, बगीचा, टूटे फूटे मन्दिर, दूतीगृह, वन, सूना स्थान, श्मशान, नदी आदि का तट और साथ ही साथ कोई अँधेरी जगह।

कलहान्तरिता नायिका का निरूपण इस प्रकार है—

चाटुकारमपि प्राणनाथं रोषादपास्य या।
पश्चात्तापमवाप्नोति कलहान्तरिता तु सा ॥३।८२

अर्थात् कलहान्तरिता नायिका वह है जो कि प्रणय-प्रार्थना करने वाले भी प्रियतम को रोषपूर्वक निराहृत कर दिया करती है और फिर स्वयं पछताया करती है। उदाहरण में विश्वनाथ ने अपने पितृचरण की यह सूक्ति प्रस्तुत की है—

नो चाटुश्रवणं कृतं, स च दृशा हारोऽन्तिके वीक्षितः,
कान्तस्य प्रियहेतवे निजसखीवाचोऽपि दूरीकृताः।
पादान्ते विनिपत्य तत्क्षणमसौ गच्छन्मया मूढया,
पाणिभ्यामवरुध्य हन्त! सहसा कण्ठे कथं नार्पितः ॥

अर्थात् 'अब क्या किया जाय! मैंने प्रियतम की प्रणययाचना भी न सुनी, उनके दिये प्रेमोपहार रूप कण्ठहार पर निगाह भी न डाली, उनकी हितचिन्ता में तत्पर अपनी सखी की बातें भी सुनी-अनसुनी कर दी और परिणाम क्या हुआ! वे मेरे पैरों पर भी गिरे, किन्तु अपनी मूढ़ बुद्धि को क्या कहूँ? उन्हें उल्टे पाँव चल पड़ते देखकर भी, ओह! न मालूम मुझे क्या हो गया कि मैं अपने हाथों से उन्हें रोककर गले से न लिपट पड़ी।'

नाट्यदर्पणकार का भी यही मन्तव्य है कि कलहान्तरिता के व्यक्तित्व की जो विशेषता है, वह 'खण्डिता' के व्यक्तित्व में नहीं रहा करती। वह तो कलह के कारण प्रियतम के प्रेम-संगम के प्रति निरभिलाष रहा करती है किन्तु खण्डिता का स्वभाव यह है कि किसी प्रकार के कलह के न होने के कारण उसे प्रिय-संगम की अभिलाषा लगी रहती है। कलहान्तरिता अपने किये पर पश्चात्ताप करती है किन्तु खण्डिता अपने प्रियतम पर ईर्ष्या रखती है।

विप्रलब्धा नायिका का परिचय विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है—

प्रियः कृत्वापि संकेतं यस्या नायाति संनिधिम्।
विप्रलब्धा तु साज्ञेया नितान्तमवमानिता ॥ ३।८३

अर्थात् विप्रलब्धा वह नायिका है जो अपने आपको इसलिये अपमानित

माना करती है क्योंकि उसका प्रेमी, स्वयं प्रेम-मिलन का संकेत देकर भी, उसके पास नहीं आ पाता है।

उदाहरण—

उत्तिष्ठ दूती, यामो यामो यातस्तथापि नायातः।
याऽतः परमपिजीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः॥

अर्थात् 'अरी दूती ! उठ, चल अब चलें, उनके आने का समय आ पहुँचा किन्तु वे नहीं आये। अब इतना सब होने पर भी जो जीवित रहे उसी के वे प्राणनाथ होने लायक हैं (मेरे भला प्राणनाथ क्यों कर होने लगे !)।

विश्वनाथ ने भारतमुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में दिये हुए विप्रलब्धा के लक्षण का अनुकरण किया है।

प्रोषितभर्तृका नायिका का लक्षण विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है—

नानाकार्यवशाद्यस्या दूरदेशं गतः पतिः।
सा मनोभवदुःखार्ता भवेत्प्रोषित भर्तृका॥ ३।८८

अर्थात् 'प्रोषितभर्तृका वह नायिका है जो कि, किसी कार्यवश, अपने प्रियतम के परदेश चले जाने के कारण, कामवेदना से व्यथित रहा करती है।'

उदाहरण के लिए कालिदास के मेघदूत की यक्षिणी—

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषुदिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमाथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्॥

अर्थात् 'हे मेघ ! चक्रवाक के विरह में चकई की भाँति मेरे विरह में विह्वल किंवा मरणासन्न मेरी प्यारी को, तुम, मेरे प्राणों का एकमात्र आधार समझना। जब तुम उसे देखोगे तब तुम्हें ऐसा लगेगा जैसे, इन विरह के लम्बे-लम्बे दिनों के बीतते, मिलन-वेला की बढ़ी-चढ़ी उत्कण्ठा में पड़ी, मेरी वह प्यारी पाले से पीड़ित पद्मिनी की तरह, दीन हीन अथवा किंकर्त्तव्यविमूढ बनी हुई है।'

विश्वनाथ का यह निरूपण नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि की परम्परा में है।

वासकसज्जा नायिका का लक्षण विश्वनाथ ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

कुरुते मण्डनं यस्याः सज्जिते वासवेश्मनि ।
सा तु वासकसज्जा स्याद्विदितप्रियसङ्गमा ॥३।८५

अर्थात् 'वासकसज्जा वह नायिका है जो, अपने सजे-धजे रंगमहल में, अपनी सखियों द्वारा सजायी जाया करती है और अपने प्रियतम से मिलने की प्रतीक्षा में पड़ी रहा करती है।

उदाहरण में विश्वनाथ ने अपने पूर्वज श्रीराघवानन्द महापात्र द्वारा रचित नाटक में चित्रित वासकसज्जा का यह चित्र प्रस्तुत किया है—

विदूरे केयूरे कुरु, करयुगेरत्नवलयै—
रलं, गुर्वी ग्रीवाभरणलतिकेयं किमनया ।
नवामेकामेकावलिमयि मयि त्वं विरचये—
र्न नेपथ्यं पथ्यं बहुतरमनङ्गोत्सविधौ ।

अर्थात् 'अरी सखी ! इन बाजूबन्दों को हटा, हाथों के इन रत्न-कंकणों का क्या काम ? गले की इस भारी हँसुली की क्या जरूरत ? अरी ! बस, तू मुझे मोतियों की एक लड़ी दे दे। मुझे तो अपने प्रियतम के साथ प्रेमोत्सव मनाना है, ऐसे समय मुझे किसी तरह की सजावट उचित नहीं लगती।'

वासक शब्द का तात्पर्य है मिलन की रात के प्रेमोपचार का। भरतमुनि ने छह वासक बताये हैं। इस प्रकार वासक के लिए सज्जिता नायिका वासकसज्जा नायिका कहलाती है। भरतमुनि ने वासकसज्जा का यह लक्षण किया है—

उचिते वासके या तु रतिसंभोगलालसा ।
मण्डनं कुरुते हृष्टा सा वै वासकसज्जिका ॥२२।२१३

विरहोत्कण्ठिता नायिका का लक्षण विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है—

आगन्तुं कृतचित्तोऽपि दैवान्नायाति यत्प्रियः ।
तदनागमदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा ॥३।८६

अर्थात् 'वह नायिका जिसका प्रियतम उससे मिलने के लिये उत्सुक होने पर भी, दैववश, उससे नहीं मिल पाता और इसलिये जिसे वियोग की व्यथा विह्वल बना दिया करता है विरहोत्कण्ठिता कहलाती है।

उदाहरण—

किं रुद्धः प्रियया कयाचिदथवा सख्या ममोद्वेजितः।
किं वा कारणगौरवं किमपि, यन्नाद्यागतो वल्लभः।
इत्यालोच्य मृगीदृशा करतले विन्यस्य वक्त्राम्बुजं
दीर्घं निःश्वसितं, चिरं च रुदितं, क्षिप्राश्च पुष्पस्रजः।

अर्थात् वह मृगनयनी विचार करने लगी 'क्या दूसरी प्रेमिका ने उन्हें रोक लिया। क्या मेरी सखी ने तो उन्हें तंग नहीं किया। क्या कोई ऐसा काम उन्हें आ पड़ा जो न टालते बना हो। वे क्यों न आ सके।' और तब उसने अपने कमलमुख को हथेलियों में छिपा, लम्बी सांस ले, बहुत देर तक रोया-धोया और फूलों के हार उतार फेंके।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में विरहोत्कण्ठिता नायिका का स्वरूप इन शब्दों में निर्दिष्ट किया है—

अनेककार्यव्यासङ्गाद् यस्या नागच्छति प्रियः।
तदनागतदुःखार्त्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा ।।२२।२१४

इस प्रकार विश्वनाथ कविराज ने नायिकाओं के प्रमुख १६ भेद करके, पुनः उनके अवस्थानुसार आठ-आठ भेद करके १२८ प्रकार की नायिकाएँ बताईं। इनके भी उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन प्रकार होने से समस्त नायिका-भेद ३८४ हुए। विश्वनाथ ने इस नायिका-भेद से मतभेद रखने वाले आचार्यों का खण्डन करके, युक्ति पूर्वक इन भेदों की प्रतिष्ठा की है। इनके अतिरिक्त दिव्या, अदिव्या, पद्मिनी, हस्तिनी आदि नायिका प्रकारों को विस्तार की आशङ्का से उन्होंने छोड़ दिया है—

इतरा अप्यसंख्यास्ता नोक्ता विस्तरशङ्कया ।। ३।८८

भाव, हाव और हेला का निरूपण

प्रश्न ३८—साहित्यदर्पणकार द्वारा निरूपित भाव, हाव और हेला का स्वरूप-विवेचन सोदाहरण प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—साहित्यदर्पणकार ने नायिकाओं के २८ यौवनालङ्कारों का वर्णन किया है जिनमें भाव, हाव और हेला ये तीन अङ्गज अलंकार कहलाते हैं इनमें भाव का स्वरूप निरूपण करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है—

निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया ।।३।९३

नायिका और नायक के निर्विकार हृदय में काम का प्रथम उन्मेष 'भाव' है। 'भाव' वह अलंकार है जिसे जन्म से लेकर यौवनारम्भ तक निर्विकृत नायिका किंवा नायक के हृदय में रतिवासना का प्रथम उद्बोधन कह सकते हैं। उदाहरण—

स एव सुरभिः कालः स एवमलयानिलः।
सैवेयमबला किंतु मनोऽन्यदिव दृश्यते ॥

अर्थात् वसन्त की ऋतु भी वही है, मलय समीर भी कोई नवीन नहीं है और यह रमणी भी वही है किन्तु इसका मन कुछ न कुछ दूसरा ही लग रहा है।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार 'भावात्मक' अङ्गविकार को इसलिये भाव कहते हैं क्योंकि यह नायिका के हृदय में (और नायक के भी हृदय में) वासना रूप से विराजमान रतिभाव को भावित अथवा सूचित किया करता है।

'हाव' का निरूपण विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है—

भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु संभोगेच्छा प्रकाशकः।
भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते ॥३।९४

अर्थात् वह भाव ही वस्तुतः 'हाव' है जो कि (नायक-नायिका के) भृकुटि किंवा नयनों के विचित्र व्यापारों में सम्भोग-कामना प्रकाशित किया करता है और हृदगत रति विकार का किञ्चिन्मात्र परिलक्षक भी हुआ करता है।

उदाहरण के लिए महाकवि कालिदास द्वारा 'कुमार सम्भव' महाकाव्य में 'पार्वती' का यह हाव-वर्णन विश्वनाथ ने प्रस्तुत किया है—

विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥

अर्थात् जिस समय महायोगी भगवान् शङ्कर के हृदय पर काम के बाण गिरने लगे, उस समय पार्वती भी नवकुसुमित कदम्ब-कोरकों की भाँति रोमांचित अपने अंग प्रत्यंग से अपनी हृदयगत रतिभावना प्रकाशित करने लगी और अपने अतिमनोरम किंवा कटाक्षांचित मुख को तिरछा घुमाये खड़ी हो गयी।

हेमचन्द्र ने 'हाव' की परिभाषा बहुत सुन्दर की है—

"बहुविकारात्मा भ्रूतारकचिबुकग्रीवादेर्धमः स्वचित्तवृत्ति परत्र जुह्वतीं
ुमारीं हावयतीति हावः ।"

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः,
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः ।
गतीनामारम्भः किसलयित लीलापरिकरः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः ॥

—काव्यानुशासन ७।३४

अर्थात् 'हाव' युवती नायिका का वह अङ्गविकार है जो उसके प्रेम-पगे
ृदय की एक सार्वजनिक सूचना दिया करता है ।

हेला का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

हेलात्यन्तसमालक्ष्यविकारः स्यात् स एवतु । ३।९५

अर्थात् हेला वह भाव है जिसे नायक-नायिका के हृदय में रतिभाव के
द्बोध के अनन्तर अङ्ग-प्रत्यङ्ग का एक ऐसा विकार कहा करते हैं, जो सब
र व्यक्त हो जावे । इस प्रकार हेला का अभिप्राय भाव ही है ।

विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में हेला का उदाहरण प्राकृत से दिया
। उसकी संस्कृत छाया हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

तथा तस्या झटिति प्रवृत्ता वध्वाः सर्वाङ्गविभ्रमाः सकलाः ।
संशयितमुग्धभावा भवन्ति चिरं यथा सखीनामपि ॥

अर्थात् "नववधू के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सभी विभ्रम-विलास इतनी शीघ्रता से
ट होने लगे कि सखियों को भी उसकी मुग्धता पर सन्देह होने लगा ।"

हेमचन्द्र के अनुसार 'हाव' का ही विकास 'हेला' है । 'हेला, हावस्य
बन्धिनी क्रिया ।'

डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि 'भाव, हाव और हेला का विश्लेषण
यक-नायिका हृदय में रति-बीज के उत्पाद-उद्घाट और औन्मुख्य का विश्लेषण
। महाकवियों की कृतियों में प्रसिद्ध नायिकाओं के यौवनालङ्कारों का जो
त्रण है, उसमें इन तीन अलङ्कारों का वास्तविक स्वरूप-सौन्दर्य स्पष्ट
लक्षित होता है । उत्तम प्रकृति नायिका के चित्रण में इन्हीं अलङ्कारों की
जना महाकवियों की कला की विशेषता है । इसीलिए नाट्यदर्पणकार का
ट कथन है—

भवति हि तथाभूतं वागादिवैचित्र्यमुपलभ्योद्‌बुद्धोऽयमन्त:कामप्रदीपोऽस्या इत्युत्तमप्रकृतिश्च नायिकेयमिति सहृदयस्य निश्चय इति ।

—नाट्यदर्पण चतुर्थ विवेक

अर्थात् उत्तम प्रकृति नायिका की अन्त:शोभा तभी छिटक पड़ती है जबकि उसके हृदय में कामावतार की शुभ-सूचना देने वाले वागादि-वैचित्र्य उसके शरीर पर प्रस्फुटित हो उठते हैं । 'भाव' तो नारी शरीर का प्रथम कामसूचक मनोरम विकार है । 'हाव, भाव' के उद्रेक पर निर्भर है और जिसे 'हेला' कहते हैं वह हाव के उन्मेष का परिणाम है ।

अनुभाव का स्वरूप एवं प्रकार

प्रश्न ३९—साहित्यदर्पणकार ने अनुभाव का स्वरूप निरूपण करते हुए उसके जो प्रकार बताए हैं, उनका विवेचन कीजिए ।

उत्तर—अनुभाव का निरूपण करते हुए साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—

उद्‌बुद्धै कारणै: स्वै: स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।
लोके य: कार्य रूप: सोऽनुभाव: काव्यनाट्ययो: ।।३।१३२

अर्थात् उन-उन कारणों से सहृदय में उद्‌बुद्ध रत्यादि भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले अङ्गादि-व्यापारों का नाम 'अनुभाव' है । लोक जीवन में तो ये अङ्गादि-व्यापार (रत्यादि भावों के) कार्य समझे जाया करते हैं किन्तु काव्य-नाट्य के क्षेत्र में इन्हें 'अनुभाव' की अलौकिक संज्ञा प्राप्त है ।

विश्वनाथ ने लिखा है कि लोक-जीवन के राम आदि के हृदय में सीता आदि आलम्बन तथा चन्द्रोदय आदि उद्दीपन विभाव से रत्यादि रूप स्थायी भाव उद्‌बुद्ध हुआ करता है । अब राम आदि की जो-जो अङ्ग चेष्टायें उनके उद्‌बुद्ध रत्यादि भावों को दूसरों पर प्रकाशित किया करती हैं उन्हें लोक-जीवन की दृष्टि से तो (रत्यादि भावों के) 'कार्य' कहते हैं और काव्य-नाट्य में कवि और नाटककार के वर्णन और अङ्कन के विषय बना दिये जाने पर इन्हें ही 'अनुभाव' की अलौकिक पदवी से विभूषित कर दिया जाया करता है ।

अनुभावों का स्वरूप इस प्रकार है—

उक्ता: स्त्रीणामलङ्कारा अङ्गजाश्च स्वभावजा: ।
तद्रूपा: सात्त्विका भावास्तथा चेष्टा: परा अपि ।।३।१३३

अर्थात् 'नायिकाओं के पूर्व निर्दिष्ट अङ्गज अथवा स्वाभावज अलंकार, अनुभाव-रूप स्तम्भादि सात्त्विक भाव और रत्यादि भावों के प्रभाव में उत्पन्न अन्यान्य चेष्टायें ।

भरतनाट्यशास्त्र में अनुभाव का यह स्वरूप बताया गया है—

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥७।५

जिसका संक्षिप्त अभिप्राय नाट्यदर्पणकार ने इस पंक्ति में अपने ही ढंग से स्पष्ट किया है—

अनु लिङ्गनिश्चयात् पश्चात् भावयन्ति गमयन्ति
लिंगिनं रसमित्यनुभावः स्तम्भादयः ।

डा० सत्यव्रतसिंह के शब्दों में 'अनुभाव' का तात्पर्य मनोगत भावों के ये साक्षात् अभिव्यञ्जक उपादानों, जैसे कि भ्रूविक्षेप आदि का है । मनोगत भावों के ये साक्षात् अभिव्यञ्जक उपादान इसलिए अनुभाव कहे जाया करते हैं क्योंकि रत्यादिरूप मनोगत भावों के उद्बोधन में ही इनकी उत्पत्ति सम्भव है । भ्रूविक्षेप आदि का अनुभव होना यह सिद्ध करता है कि इनके द्वारा इनके हेतुभूत रत्यादि भावों की अभिव्यक्ति हुआ करती है । अनुभावों की चार श्रेणियाँ हैं—

(१) **चित्तारम्भक**—जैसे कि भाव-हाव-हेला आदि ।

(२) **गात्रारम्भक**—जैसे कि लीला, विलास, विच्छित्ति आदि ।

(३) **वागारम्भक**—जैसे कि आलाप, विलाप, संलाप आदि । और

(४) **बुद्ध्यारम्भक**—जैसे कि रीति, वृत्ति आदि ।

साहित्यदर्पणकार ने कतिपय सात्त्विक भावों को भी अनुभावरूप मान लिया है । इस मान्यता में दशरूपककार का प्रभाव स्पष्ट है ।

सात्त्विकभाव का निरूपण विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है—

विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ॥ ३।१३४

अर्थात् सत्व के उद्रेक से उत्पन्न मनोविकारों को सात्त्विकभाव कहते हैं । सत्त्व अन्तःकरण का एक धर्मविशेष है जिसके कारण सामाजिक हृदय में वासनारूप से विराजमान रत्यादिभावों का उद्बोधन हुआ करता है । यों तो सात्त्विकभाव और अनुभाव एकरूप ही हैं किन्तु इन्हें भिन्नरूप इसलिए माना

जा सकता है क्योंकि (स्तम्भादिरूप) सात्त्विकभाव सत्त्व के उद्रेक से ही उत्पन्न मनोविकार होते हैं। अनुभावों में सात्त्विक भावों के अन्तर्भूत होने पर भी, अनुभावों से वैशिष्ट्य बताने के लिये, सात्त्विकभावों का पृथक् परिगणन स्वाभाविक ही है।

सत्त्वसम्भूत आठ मनोविकार ही आठ सात्त्विकभाव हैं। उनके नाम ये हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभङ्ग, वेपथु, विवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

इन सात्विक भावों का निरूपण साहित्यदर्पणकार ने इस प्रकार किया है—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ॥३।१३५
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः।
स्तम्भश्चेष्टा प्रतीघातो भयहर्षभयादिभिः ॥३।१३६
वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिधर्म श्रमादिभिः।
हर्षोद्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया ॥३।१३७
मदसंमद पीडाद्यैर्वैं स्वर्यं गद्गदं विदुः।
रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः ॥३।३१८
विषादमद रोषाद्यैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता।
अश्रु नेत्रोद्भवं वारि क्रोधदुःख प्रहर्षजम् ॥३।१३९
प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञान निराकृतिः।

(१) स्तम्भ—भय, हर्ष, रोग आदि के कारण मन अथवा शरीर के व्यापारों का रुक जाना स्तम्भ है।

(२) स्वेद—रति प्रसंग, आतप (धूप) परिश्रम आदि के कारण शरीर से निकल पड़ने वाले जल को 'स्वेद' कहते हैं।

(३) रोमाञ्च—हर्ष, विस्मय, भय आदि के कारण रोंगटों के खड़े होने को रोमाञ्च कहा जाता है।

(४) स्वरभङ्ग—मद्यपान, हर्ष, पीड़ा आदि के कारण गले के रुँध जाने का नाम 'स्वरभंग' है।

(५) वेपथु—अनुराग, द्वेष, परिश्रम आदि के कारण शरीर की कँपकँपी को वेपथु कहा करते हैं।

(६) वैवर्ण्य—विषाद, मद, रोष आदि के कारण उत्पन्न हुए वर्ण विकार का नाम वैवर्ण्य (विवर्णता) है।

(६) **अश्रु**—क्रोध, दुःख, प्रहर्ष आदि के कारण उत्पन्न होने वाले नेत्रजल को अश्रु कहते हैं ।

(८) **प्रलय**—सुख अथवा दुख के अतिरेक में चेष्टाशून्यता अथवा ज्ञान-शून्यता प्रलय है ।

विश्वनाथ ने रोमाञ्च, स्वेद, प्रलय रूप और सात्विक भावों के उदाहरण में निम्नांकित स्वरचित सूक्ति प्रस्तुत की है—

तनुस्पर्शादस्या दरमुकुलिते हन्त ! नयने
उदञ्चद्रोमाञ्चं व्रजति जडतामगं मखिलम् ।
कपोलौ धर्माद्रौं ध्रुवमुपरताशेष विषयं
मनः सान्द्रानन्दं स्पृशति झटिति ब्रह्म परमम् ।।

अर्थात् 'मेरे शरीर के स्पर्श से, इस सुन्दरी के नयनकमल अधखिले दीख रहे हैं, शरीर रोमाञ्चित हो रहा है, अंग-प्रत्यंग निश्चेष्ट बन गये हैं, और कपोल स्वेद-बिन्दुओं से गीले हो चुके हैं । ऐसा लगता है जैसे इसका मन अन्य समस्त विषयों से विरक्त है, और ब्रह्मानन्दरूप एकघन प्रेमसुख में अन्तर्लीन हो रहा है ।

इस प्रकार विश्वनाथ का अनुभव स्वरूप निरूपण स्पष्ट एवं सुबोध तथा शास्त्रीय परम्परा में है ।

स्थायीभावः स्वरूप तथा प्रकार

प्रश्न ४०—साहित्यदर्पणकार द्वारा निरूपित स्थायीभाव के स्वरूप एवं प्रकारों की विवेचना कीजिए ।

उत्तर—स्थायीभावों के स्वरूप का निरूपण करते हुए विश्वनाथ कविराज ने लिखा है—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादाङ्कुर कन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः ।।३।१७४

अर्थात् 'स्थायीभाव उस भाव को कहा करते हैं जो कि न तो किसी अनु-कूल भाव से तिरोहित हुआ करता है और न किसी प्रतिकूल भाव से ही दबा करता है। यह भाव तो अन्त तक अवस्थित रहने वाला भाव है, और इसीमें रस के अंकुरण (अभिनय किंवा सूक्ष्म उद्भेद) की मूलशक्ति निहित रहा करती है। इसीलिए कहा भी गया है—

स्रक्सूत्रवृत्त्या भावानामन्येषामनुगामकः ।
न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम्।।

अर्थात् 'स्थायीभाव तो वह भाव है, जिसे अन्य भाव वैसे ही रह-रह कर प्रकाशित और परिपुष्ट किया करते हैं, जैसे माला के फूल या मोती गुम्फन-सूत्र को प्रकाशित एवं परिपुष्ट किया करते हैं। स्थायीभाव का अभिप्राय है, 'स्थितिशील'।

नाट्यदर्पणकार का कथन है, कि व्यभिचारीभाव सञ्चरणशील चित्त-वृत्तियों को कहा जाता है, इसलिए भी स्थैर्यशील चित्तवृत्तियों को 'स्थायीभाव' कहना आवश्यक है।

स्थायीभावों के विश्वनाथ ने नौ प्रकार बताए हैं--

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ।।३।१७५

अर्थात् स्थायीभाव के ये भेद हैं—(१) रति, (२) हास, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) जुगुप्सा, (८) विस्मय और (९) शम।

'स्थायीभावों के ये नौ भेद नवरसों के आधार पर निरूपित किये गए हैं। धर्म-अर्थ-काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति और 'रसानुभूति' में विरोध नहीं इसलिए ९ रसों और उनके ९ स्थायीभावों का सम्बन्ध पुरुषार्थ चतुष्ट्य के साथ सिद्ध किया गया है। कुछ आचार्य 'निर्वेद' को ९वाँ स्थायी-भाव मानते हैं, और कुछ 'शम' को।' (डा० सत्यव्रतसिंह)।

विश्वनाथ कविराज ने स्थायीभावों के स्वरूप का निरूपण इस प्रकार किया है—

रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।
वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते ।।३।१७६

अर्थात् प्रिय वस्तु के प्रति हृदय की उत्कट उन्मुखता (प्रेमाद्रता) को रति कहा करते हैं। 'हास' का अभिप्राय वाणी आदि की विकृतियों के दर्शन अथवा चिन्तन से संभूत चित्त विकास का है।

इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्द भाक्।
प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते ।।३।१७७

कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते ।
रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यं भयम् ।।३।१७८
दोषे क्षणादिभि गर्हा जुगुप्सा विस्मयोद्भवा ।
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ।।३।१७९
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ।
शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ।।३।१८०

अर्थात् प्रियवस्तु के नाश से उत्पन्न चित्त की विक्लवता का नाम शोक है। विरोधियों के प्रति हृदय में उत्पन्न तीव्रता या प्रतिशोध-भावना को क्रोध कहते हैं। कार्यों के आरम्भ में स्थैर्यशाली जो हृदय का आवेश अथवा उद्योग है, वही उत्साह है। किसी भीषण वस्तु की विभीषिका—शक्ति से उत्पन्न चित्त के वैकल्य का नाम भय है। जुगुप्सा का अभिप्राय है, किसी घृणास्पद वस्तु के दोष-दर्शन आदि आदि से उत्पन्न अथवा विस्मय-जनित घृणाभाव का। नाना-विध अलौकिक पदार्थों के दर्शनादि से संभूत चित्त का विस्तार ही विस्मय है, और निस्पृहता की दशा में संभूत अन्तःकरण की अन्तर्मुखता को शम कहते हैं।

नाट्यलक्षण, नाट्यालंकार, वीथ्यंग और लास्यांग

प्रश्न ४१—नाट्यलक्षण, नाट्यालङ्कार, वीथ्यंग और लास्यांग इन चारों तत्त्वों का विवेचन साहित्यदर्पणकार ने षष्ठ परिच्छेद में विस्तार से किया है। इसका संक्षेप में स्वरूप निरूपण करते हुए नाटक में रसाभिव्यञ्जन की दृष्टि से महत्त्व बताइए।

उत्तर—नाटक में, रसाभिव्यञ्जन की दृष्टि से, जहाँ जैसा उचित हो, निम्नांकित उपनिबन्ध अपेक्षित हैं—

(क) छत्तीस नाट्यलक्षण,
(ख) तैंतीस नाट्यालङ्कार,
(ग) तेरह वीथ्यङ्ग, और
(घ) दस लास्याङ्ग।

नाट्यलक्षण और नाट्यालङ्कार का एकमात्र उपयोग नाटक के इतिवृत्त रूप शरीर में रसाभिव्यञ्जक-सामर्थ्य का अधिकाधिक आधान है। वीथ्यङ्गों की योजना से 'नाटक' का इतिवृत्तात्मक शरीर क्षण-क्षण नवीन हुआ करता है और रमणीय लगता है। वस्तुतः वीथी भारतीय वृत्ति की ही एक सुन्दर झाँकी

है। सभी रूपक-प्रबन्ध 'वीथी' (वक्र मार्ग) से ही चला करते हैं। लास्याङ्ग-रञ्जनावैचित्र्य हैं। इनका उपयोग कवि और अभिनेता दोनों की दृष्टि से है। विश्वनाथ कविराज ने प्राचीन नाट्यशास्त्र की मर्यादा के निर्देश रूप से ही इनका निरूपण किया है। छत्तीस नाट्यलक्षणों के नाम ये हैं—भूषण, अक्षर-संघात, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टान्त, तुल्यतर्क, पदोच्चय, निदर्शन, अभिप्राय, प्राप्ति, विचार, दिष्ट, उपदिष्ट, गुणातिपात, गुणातिशय, विशेषण, निरुक्ति, सिद्धि, भ्रंश, विपर्यय, दाक्षिण्य, अनुनय, माला, अर्थापत्ति, गर्हण, पृच्छा, प्रसिद्धि, सारूप्य, संक्षेप, गुणकीर्तन, लेश, मनोरथ, अनुक्तसिद्धि और प्रियवचन।

विश्वनाथ कविराज का नाट्यलक्षण-निरूपण भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के नाट्यलक्षण-निरूपण प्रकरण का अनुसरण करता है।

तैंतीस नाट्यालङ्कारों का निरूपण विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण (६।१९५ से ६।१९८ तक) में किया है। ये नाट्य के शोभाधायक हुआ करते हैं। इनके नाम ये हैं—आशी, आक्रन्द, कपट, अक्षमा, गर्व, उद्यम, आश्रय, उत्प्रासन, स्पृहा, क्षोभ, पश्चाताप, उपपत्ति, आशंसा, अध्यवसाय, विसर्प, उल्लेख, उत्तेजन, परीवाद, नीति, अर्थ विशेषण, प्रोत्साहन, साहाय्य, अभिमान, अनुवर्तन, उत्कीर्तन, याञ्चा, परिहार, निवेदन, प्रवर्त्तन, आख्यान, युक्ति, प्रहर्ष और उपदेशन।

विश्वनाथ ने नाट्यलक्षण और नाट्यालङ्कार की पृथक् कल्पना की है। भरतमुनि ने केवल ३६ नाट्यलक्षण (नाटयभूषण) बताए हैं। अभिनवभारती ने भी नाट्यलक्षण और नाट्यालङ्कारों को पृथक् नहीं माना है। कुछ नाट्य-शास्त्रकार लक्षण और अलङ्कार को भिन्न-भिन्न नाट्यधर्म के रूप में देखते हैं और कतिपय ऐसे हैं जिन्होंने लक्षण को अलङ्कार (विभूषण) का ही समानार्थक मान लिया है। विश्वनाथ ने अपने सभी पूर्वाचार्यों के 'लक्षण' और 'अलङ्कार' विषयक मतों का सामंजस्य स्वीकार कर ३६ नाट्यलक्षणों और ३३ नाट्या-लङ्कारों का निरूपण किया है। उन पर भावप्रकाश के रचयिता शारदातनय का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। विश्वनाथ लक्षण और अलङ्कार का स्पष्ट विवेक प्रस्तुत नहीं कर सके हैं।

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में लिखा है 'भूषण' आदि ३६ नाट्यलक्षणों और 'आशीः' आदि ३६ नाट्यालङ्कारों के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक

है कि वस्तुतः तो नाट्य के लक्षण और अलङ्कार एक ही तत्त्व हैं क्योंकि दोनों का उद्देश्य नाट्य के इतिवृत्ति-शरीर की शोभाधायकता ही है। नाट्यशास्त्र-कारों ने गतानुगतिकता के कारण ही इन्हें भिन्न-भिन्न नाम और रूप का मान रखा है। विश्वनाथ का स्पष्ट मत है कि नाटक में लक्षण और अलङ्कारों की योजना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इससे रसाभिव्यंजन का सम्बन्ध है। विश्वनाथ ने लिखा है कि नाट्यालङ्कारों में कतिपय ऐसे भी लक्षण और अलङ्कार हैं जो माधुर्यादिगुण, रूपकादि अलङ्कार, विभावादिभाव किंवा युक्ति आदि सन्ध्यंगों में स्वभावतः अन्तर्भूत प्रतीत होते हैं। फिर भी इनका उनसे पृथक् विवेचन करने का कारण यह है कि काव्य-नाट्य में लक्षण एवं अलङ्कार योजना के प्रति कवि को प्रयत्नशील होने की आवश्यकता है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में स्पष्ट निर्देश किया है कि कवि को ऐसे नाटक की रचना करनी चाहिए जिसमें सन्धिपञ्चक का विन्यास हो, वृत्तिचतुष्ट्य का उपनिबन्ध हो, ६४ सन्ध्यंगों की योजना हो, ३६ लक्षणों का समावेश हो, अलङ्कारों की शोभाधायकता हो—

पञ्चसन्धि चतुर्वृत्ति चतुःषष्टयंगसंयुतम्।
षड्विंशल्लक्षणोपेतमलङ्काऐपशोभितम् ॥

भरतमुनि की लक्षण और अलङ्कारों के सम्बन्ध में यह मान्यता है—

षट्त्रिंशदेतानि तु लक्षणानि प्रोक्तानि वैभूषणसंमितानि।
काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसंतु ॥

—नाट्यशास्त्र १६।४

लक्षण और अलङ्कार का भी ऐकरूप्य और भेद लक्षण-विषयक सिद्धान्त है। अभिनवभारतीकार ने लिखा है—'लक्षण' और 'अलङ्कार' में उपस्कार्यो-पस्कारक भावों होने से दोनों परस्पर भिन्न भी हैं और 'लक्षण' और 'अलंकार' के पारस्परिक वैचित्र्य-संयोग से सम्भूत काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से दोनों का समन्वय भी सम्भव है। इसी प्रकार 'लक्षण' और 'सन्ध्यंग' एकरूप भी हैं और भिन्न रूप भी इतिवृत्त रूप शरीर के अंग-प्रत्यंग होने के नाते तो 'लक्षण' और 'सन्ध्यंग' एकरूप हैं किन्तु निमित्त भेद से दोनों में भेद भी किया जा सकता है।

नाट्योपयोगी दस लास्यांगों के नाम इस प्रकार हैं—गेयपद, स्थितपाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेद्यक, त्रिगूढ़, सैन्धव, द्विगूढ़क, उत्तमात्तमक और

उक्तप्रत्युक्त। लास्यांगों से रञ्जनावैचित्र्य की निष्पत्ति हुआ करती है, जो रसास्वाद में सहायक है। वीथ्यंग तेरह माने गए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—उद्घात्यक, अवगलित, प्रपञ्च, त्रिगत, छल, वाक्केलि, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, असत्प्रलाप, व्यवहार और मृदव अथवा मार्दव।

वीथी भारतीयवृत्ति का एक देश है। इसमें वक्रोक्ति का बाहुल्य रहता है। वीथी की निरुक्ति यह है—

वक्रोक्तिमार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी।

वीथी को इसीलिए वीथी कहते हैं क्योंकि यह वीथी (गली) की भाँति टेढ़ी-मेढ़ी अर्थात् उक्तिवक्रतापूर्ण हुआ करती है। वीथी के १३ अंग वस्तुतः इसके वक्रोक्ति वैचित्र्य के ही विभिन्न रूप हैं। इसीलिए सांगोपांग वीथी को रूपकमात्र के लिये उपकारक माना गया है।

ये वीथ्यंग नाटकादिरूपक प्रबन्धों में पाये जाते हैं किन्तु वीथी नामक रूपक प्रकार में इनकी योजना अनिवार्य मानी गयी है। वीथी रस भावों से युक्त अथवा पंक्ति (माला) सी रची जाया करती है।

अर्थोपक्षेपक : स्वरूप एवं प्रकार

प्रश्न ४२—साहित्यदर्पणकार द्वारा निरूपित अर्थोपक्षेपक के स्वरूप एवं प्रकारों की विवेचना कीजिए।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण (६।५०) में लिखा है कि 'रूपक' प्रबन्धों की इतिवृत्त-रचना में कवि के लिये यह आवश्यक है कि या तो वह मूलवृत्त के उस अंश को छोड़ ही दे, जो अभीष्ट चरित्र-चित्रण अथवा रसभाव के प्रतिकूल पड़ रहा हो या उसे यथासम्भव दूसरा रूप दे दे। यथा, उदात्तराघव में राम द्वारा छिपकर बालिवध के वृत्तान्त को रसाभाव के अनुचित अंशभूत होने के कारण छोड़ दिया है अथवा महावीरचरित नाटक में इसे दूसरा ही रूप दे दिया है कि 'बालि ही राम का वध करने आता है और राम उसे मार देते हैं। विश्वनाथ का कथन इस प्रकार है—

यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥६।५०

नाट्यदर्पणकार का भी यही कथन है—

अयुक्तं च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा।
वृत्तं यत्तत् परित्याल्यं प्रकज्ल्यमथवाऽन्यथा ॥

रूपक कवि ऐसी घटना को, जिसे रस की दृष्टि से अङ्क के अन्तर्गत स्थान देना अनुचित है, किन्तु पूर्वापर वृत्त-योजना की दृष्टि से निर्दिष्ट करना भी अपेक्षित है, अर्थोपक्षेपक की योजना द्वारा सूचित कर देता है। इसी प्रकार अधिक समय वाली, समय के लम्बे अन्तराल वाली तथा विस्तार रखने वाली घटनाएँ भी अर्थोपक्षेपक द्वारा प्रस्तुत की जाया करती हैं।

अङ्कच्छेदे कार्यं मासकृतं वर्षसञ्चितं वापि।
तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं नतु कदाचित्॥

अर्थात् वह वृत्त जो एक मास में घटित हुआ हो अथवा एक वर्ष में सम्पन्न हुआ हो, अङ्कच्छेद अर्थात् विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपक-प्रकारों में से किसी एक के द्वारा वर्णित किया जा सकता है। किन्तु एक वर्ष से अधिक समय में घटी घटना का उपनिबन्धन कदापि नहीं होना चाहिये।

इसीलिए रामविषयक रूपक-प्रबन्धों में, राम के १४ वर्ष के वनवास काल में घटित, विराध-वध आदि-आदि कथांशों को, एक वर्ष अथवा एक वर्ष के भीतर अथवा एक दिन या दो दिन में ही घटित रूप से अर्थोपक्षेपकों द्वारा उपनिबद्ध किया गया है, जिसमें नाट्यशास्त्र की मर्यादा की भी पूर्ण रक्षा हुई है।

अर्थोपक्षेपक के प्रकार—

अर्थोपक्षेपकाः पञ्च विष्कम्भकप्रवेशकौ।
चूलिकांगाऽवतारोऽथ स्यादङ्कमुखमित्यापि॥ ६।५४

अर्थोपक्षेपक के पाँच प्रकार हैं—(१) विष्कम्भक (२) प्रवेशक (३) चूलिका (४) अङ्कावतार और (५) अङ्कमुख।

डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि 'सरस इतिवृत्त का निबन्धन तो अङ्क में हुआ करता है किन्तु नीरस और इसीलिए अनिबन्धनीय इतिवृत्त प्रकार की सूचना के जो उपाय हैं उन्हें 'अर्थ' अथवा इतिवृत्त के 'उपक्षेपक' अथवा प्रत्यायक होने के नाते 'अर्थोपक्षेपक' कहा गया है।'

(१) **विष्कम्भक**—वह अर्थोपक्षेपक है जो कि भूत और भावी कथाभागों की सूचना दिया करता है। यह अङ्क की अपेक्षा कम विस्तार रखा करता है। इसकी योजना अङ्क के आरम्भ में ही की जाया करती है मध्य अथवा अन्त में नहीं। इसके दो प्रकार हैं—

(अ) **शुद्ध विष्कम्भक**—इसमें मध्यम प्रकृति के एक पात्र अथवा दो

पात्रों के द्वारा वृत्त किंवा वर्तिष्यमाण वृत्तान्त भागों की सूचना दे दी जाया करती है।

(आ) **मिश्र अथवा संकीर्ण विष्कम्भक**—इसमें नीच और मध्यम प्रकृति के पात्रों द्वारा भूत और भावी अरंजक घटनायें सूचित की जाया करती हैं।

विश्वनाथ कविराज ने लिखा है—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥३।५५
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः।
शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो नीचमध्यकल्पितः ॥६।५६

विष्कम्भक अङ्कसन्धायक हुआ करता है, अर्थात् अंकार्थ का संसूचक होना है, अथवा दो अङ्कों या दो अंकार्थों का सम्बन्धक (संबद्ध कराने वाला) होना है, विष्कम्भनाति अनुसन्धानेन वृत्तमुपष्टम्भयतीति विष्कम्भकः।

(२) **दूसरा अर्थोपक्षेपक प्रवेशक**—विश्वनाथ ने प्रवेशक की परिभाषा इस प्रकार की है—

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥६।५७

अर्थात् प्रवेशक भी विष्कम्भक की ही भाँति वृत्त और वर्तिष्यमाण इतिवृत्त का सूचक हुआ करता है। इसकी योजना दो अङ्कों के बीच में की जाया करती है, और इसमें 'अनुदात्तोक्ति' अर्थात् संस्कृतभिन्न प्राकृतादि भाषा द्वारा कथावस्तु की सूचना हुआ करती है। इसका प्रयोग नीच पात्रों का कार्य है।

आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है, कि दो अङ्कों के बीच में 'प्रवेशक' की योजना का यह तात्पर्य है, कि पहले अङ्क में इसकी योजना निषिद्ध है। इसके उदाहरण के लिए वेणी संहार नाटक के तृतीय अङ्क अर्थात् 'अश्वत्थामाङ्क' के राक्षस-मिथुन का वृत्तान्त देखा जा सकता है।

डा० सत्यव्रतसिंह ने निष्कम्भक और प्रवेशक के भेद का निरूपण करते हुए लिखा है, कि 'प्रवेशक और विष्कम्मक में जो वस्तुतः भेद है, वह भाषा का भेद है। प्रवेशक की भाषा प्राकृत हुआ करती है, और निष्कम्भक की संस्कृत अथवा संस्कृत-प्राकृत। प्रवेशक को इसलिए 'प्रवेशक' कहा जाया करता है, क्योंकि इसका कार्य सामाजिक हृदय में अप्रत्यक्ष अर्थ का प्रवेश कराना हुआ करता है—

अप्रत्यक्षान् अर्थान् सामाजिकहृदये प्रवेशयतीति प्रवेशकः ।

(३) **तीसरा अर्थोपक्षेपक चूलिका**—चूलिका वह अर्थोपक्षेपक प्रकार है, जिसमें पात्र नेपथ्य के भीतर से ही वस्तु विशेष की सूचना दिया करते हैं ।

अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका ।

(४) **चौथा अर्थोपक्षेपक अङ्कावतार**—अङ्कावतार वह अर्थोपक्षेपक भेद है, जिसे पिछले अङ्क के अन्त में, उस अंक के पात्रों द्वारा, अग्रिम अङ्क की सूचना कहा करते हैं ।

(५) **पाँचवा अर्थोपक्षेपक अङ्कमुख**—अङ्कमुख वह अर्थोपक्षेपक है, जिसे एक अङ्क में अन्य अङ्कार्थों की सूचना कहा जाया करता है, और जिसमें बीज तथा अर्थ (फल) दोनों संक्षेप में सूचित हुआ करते हैं ।

अङ्कमुख का एक और भी प्रकार है, जिसे अङ्कास्य कहते हैं । अङ्कास्य का अभिप्राय पूर्व अङ्क के अन्त में प्रविष्ट पात्रों द्वारा, अग्रिम असम्बद्ध अङ्कों की सूचना का अभिप्राय है । अन्य नाटयाचार्य अङ्कावतार से ही इसे गतार्थ मानते हैं, क्योंकि इसमें और अङ्कावतार में कोई भेद नहीं है ।

निष्कर्ष—जहाँ रूपक-प्रबन्ध के सरस आरम्भ के लिए विशद नीरस कथा का त्याग आवश्यक है, वहाँ सम्बद्ध अपेक्षित कथा का वर्णन भी आवश्यक है, और इसके लिये आमुख अथवा प्रस्तावना के बाद में ही, आमुख-सुचित पात्र द्वारा निष्कम्भक का प्रयोग उपयुक्त माना गया है । रत्नावली में आमुख के बाद, यौगन्धरायण द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक इसी योजना के नियम का निदर्शन है । अर्थोपक्षेपक की योजना का एकमात्र उद्देश्य ऐसी सूच्य वस्तु की सूचना है, जो कि रूपक के इतिवृत्त के लिए अपेक्षित हो ।

अर्थप्रकृतिपञ्चक

प्रश्न ४३—विश्वनाथ के अनुसार अर्थ प्रकृतिपञ्चक का निरूपण कीजिए ।

उत्तर—विश्वनाथ ने अर्थप्रकृतिपंचक का निर्देश इस प्रकार किया है—

बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ।।६।६४
अर्थ प्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ।

अर्थात् अर्थप्रकृतिपञ्चक यह है (१) बीज, (२) बिन्दु (३) पताका (४) प्रकरी और (५) कार्य । रूपक में इन अर्थप्रकृतियों का नियमानुसार उपनिबन्ध आवश्यक माना गया है ।

अर्थ प्रकृति का अभिप्राय अर्थ अथवा फल के उपाय अथवा हेतु का है। फल हेतु अथवा फल के उपाय प्रथमतः दो प्रकार से विभक्त किये जा सकते हैं।

(१) जड़रूप फलसाधन

(२) चेतनरूप फलसाधन

जड़रूप फलसाधन के दो उपविभाग : (i) बीज और (ii) कार्य हैं। बीज फल का मुख्य कारण है, और कार्य वह है, जिसे बीज से फलोत्पादन के लिए प्रयुक्त किया जाया करता है।

चेतनरूप फलोपाय के दो भेद हैं : (i) मुख्य तथा (ii) सहकारी। यह सहकारी रूप चेतन फलहेतु भी दो प्रकार का हो सकता है—

(अ) स्वार्थ सिद्धिपूर्वक परार्थ का साधक।

(आ) स्वार्थ निरपेक्ष रूप से परार्थ का साधक।

इन त्रिविध चेतनरूप फलोपायों में बिन्दु तो मुख्य फलोपाय हैं, और पताका और प्रकरी प्रथम और द्वितीय प्रकार के सहकारी फलोपाय हैं।

यहाँ यह स्पष्ट है, कि 'फल' को रूपककार और नायक दोनों का फल माना गया है। रूपककार के लिये रूपक का फल रसोल्लास है, और रूपक में नायक का फल धर्मार्थ—काम मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय में से कोई एक अथवा परस्पर संभिन्न पुरुषार्थ हो सकता है।

संक्षेप में अर्थ प्रकृति 'फलोपाय' है।

(१) **बीज**—यह वह अर्थ प्रकृति है, जिसे मुख्य फल का मुख्य हेतु अथवा उपाय कहा गया है। धान्य-बीज की भाँति रूपक-प्रबन्ध का यह बीज प्रारम्भ में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में उपक्षिप्त रहा करता है, और उत्तरोत्तर विकसित और वृद्धिशील होता जाता है—

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ॥६।६५
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते।

यथा वेणीसंहार के प्रारम्भ में भीमसेन के कोपावेश से समृद्ध युधिष्ठिर के युद्धोत्साह का जो वर्णन है, जो द्रौपदी के केश संयमन का निदान है, उसमें बीज रूप अर्थ प्रकृति की ही रूपरेखा झलका करती है।

प्राचीन नाटयाचार्यों ने बीज की त्रिविध रूप में कल्पना की है—फलबीज, वस्तुबीज और अर्थबीज।

(२) **बिन्दु**—दूसरी अर्थ प्रकृति बिन्दु है, जिसे रूपक प्रबन्धों के अवान्तर वृत्त-विच्छेद की सम्भावना में अविच्छेद का कारण कहा गया है—

अवान्तरार्थ विच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ।।६।६६

अभिनवभारतीकार के अनुसार 'नाटकीय इतिवृत्त में आवश्यक कार्य जन्य व्यवधान के निवारणार्थ जो नायकादिगत उपाय के अनुसन्धान की योजना चला करती है, उसे 'बिन्दु' कहा गया है। प्रत्येक नाटकीय चरित की अपनी-अपनी कार्य सिद्धि है, और उसके अपने-अपने उपाय हैं, जिनका अनुसन्धान अथवा अन्वेषण अवश्यंभावी है। इस प्रकार बिन्दु रूपक प्रबन्ध में व्याप्त ज्ञान अथवा विचाररूप इतिवृत्त भाग माना गया है, और इसकी योजना अनिवार्य बताई गई है। भरतमुनि का बिन्दु लक्षण इस प्रकार है—

प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम् ।
यावत्समाप्तिर्बन्धस्य स बिन्दुः परिकीर्तितः ।।

(३) **पताका**—तीसरी अर्थ प्रकृति पताका वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त है, जो व्यापक हुआ करता है, और प्रधान फल का सहायक बना करता है। उदाहरण—रामचरित सम्बन्धी रूपक-प्रबन्धों में सुग्रीवादि सम्बन्धी वृतान्त।

पताका की नाटकपर्यन्त योजना का निरूपण करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है—

पताकानायकस्य स्यात्र स्वकीयं फलान्तरम् ।
गर्भे सन्धौ विमर्शे वा निर्वाहस्तस्य जायते ।।६।६७

अर्थात् पताका रूप प्रासंगिक इतिवृत्त का भी एक नायक हुआ करता है किन्तु आधिकारिक नायक-विषयक फल के अतिरिक्त उसका अन्य कोई फल उपनिबद्ध नहीं किया जाया करता। पताकानायक का अपना जो फल है उसका उपनिबन्धन गर्भसन्धि अथवा विमर्शसन्धि में ही समाप्त हो जाता है।

यथा—सुग्रीव वृत्तान्त रूप पताका में उसे राज्यलाभ रूप फल गर्भ अथवा विमर्शसन्धि में निबद्ध है न कि निर्वहण सन्धि में क्योंकि वहाँ तो प्रमुख नायक के फल का उपनिबन्धन अपेक्षित होता है। अभिनवगुप्त का कथन है कि 'पताका' का अभिप्राय उपचार रूप से पताकानायकगत फल है न कि पताका-रूप प्रासंगिक इतिवृत्त का, जो कि निर्वहण सन्धि तक भी चला करता है।

(४) **प्रकरी**—चौथी अर्थप्रकृति प्रकरी है जिसे रूपक प्रबन्धों के अल्पदेश व्यापक प्रासंगिक वृत्त के रूप में देखा जाया करता है। इसका भी नायक

अवश्य होता है किन्तु मुख्य नायक के फल के अतिरिक्त प्रकरी नायक का और कोई फल नहीं हुआ करता। प्रकरी नायक का कार्यकलाप उसके अपने प्रयोजन विशेष के लिए न होकर आधिकारिक नायक के ही उद्देश्य विशेष के लिए हुआ करता है। यथा जटायु की मोक्षप्राप्ति के प्रयत्नों का फल नहीं अपितु राम के सीतालाभ रूप फल का ही साधन है।

भरतमुनि के अनुसार प्रकरी वह इतिवृत्त विशेष है जो स्वार्थनिरपेक्ष रहा करता है और एकमात्र आधिकारिक इतिवृत्त के ही लिये विनियुक्त किया जाया करता है। इसीलिए 'प्रकरी' नायक का कृत्यानुष्ठान अपने लिये नहीं अपितु एकमात्र आधिकारिक नायक के ही लिए हुआ करता है—

फलं प्रकल्प्यते यस्याःपरार्थायैव केवलम्।
अनुबन्धविहीनत्वात् प्रकरीति विनिर्दिशेत ।। १६।२५

नाट्यदर्पणकार ने प्रकरी को वृत्त विशेष की अपेक्षा चरित विशेष कहना उचित समझा है। प्रकरी रूपक-प्रबन्धों का वह चरित विशेष है जो मुख्य नायक के लिये ही सब कुछ किया करता है। प्रकरी भी नायक का एक सहकारी चरित है किन्तु स्वार्थ निरपेक्ष रहकर नायक के प्रयोजनों का सम्पादक बनता है। प्रकरी की योजना अनिवार्य नहीं वरन् वैकल्पिक है।

(५) कार्य—पांचवीं अर्थप्रकृति कार्य का अभिप्राय उस प्रधानतया अवस्थित साध्य का है जिसके उद्देश्य से नायक के कृत्यों का आरम्भ हुआ करता है और जिसकी सिद्धि में नायक का कृत्यानुष्ठान समाप्त माना जाया करता है। रामचरित में रावणवध का निरूपण कार्यरूप अर्थप्रकृति का ही निदर्शन है—

अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः ।।६।६६
समापनं तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति संमतम्।

भरतमुनि के अनुसार 'कार्य' का यह स्वरूप है—

यदाधिकारिकं वस्तु सम्यक् प्राज्ञैः प्रयुज्यते।
तदर्थो यः समारम्भस्त त्कार्यं परिकीर्तितम् ।।१६।२६

जिस उद्देश्य विशेष की दृष्टि से प्रधान नायक, पताकानायक और प्रकरी नायक का कार्य व्यापार चला करता है उसके लिए जो भी आवश्यक साधन-समुदाय है, वह सब 'कार्य' रूप अर्थप्रकृति के अन्तर्गत रहा करता है। प्रधान उपाय तो 'बीज' है ही किन्तु उसका सहायक जो कुछ भी उपाय है, वह सब कार्य रूप ही है। इस प्रकार नाटककार द्वारा 'बीज' रूप से निक्षिप्त वृत्त-

विशेष की सफलता के लिए नियोजित जो भी वृत्त-वैचित्र्य है, वह सब 'कार्य' रूप ही है ।

दशरूपककार ने कार्य को धर्म-अर्थ-कामरूप पुरुषार्थ माना है जिसकी प्राप्ति के लिए नायक के कार्यारम्भ आदि का चित्रण होता है । 'कार्य' बीज का सहकारी नहीं अपितु बीज का साध्य है । भावप्रकाशनकार ने भी यही माना है । साहित्यदर्पणकार ने भी दशरूपक और भावप्रकाशन के कार्य लक्षण को मान्यता प्रदान करके अपना लक्षण बनाया है ।

संकेतग्रहः स्वरूप एवं क्षेत्र

प्रश्न ४४—संकेतग्रह के विषय में विश्वनाथ कविराज ने उपाधिशक्तिवाद की मान्यताओं को स्वीकार किया है । इस कथन की विवेचना करते हुए संकेत का क्षेत्र बताइये ।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के द्वितीय परिच्छेद में अभिधाशक्ति के निरूपण में संकेतित अर्थ की चर्चा की है—

तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा ।

अभिधा वह शक्ति है जिससे संकेतित अथवा प्रसिद्ध अर्थ का अवबोध हुआ करता है ।

उन्होंने संकेतग्रह के उपाय भी बताए हैं, यथा—वृद्ध व्यवहार, प्रसिद्धार्थ-पदसमभि व्याहार, आप्तोपदेश । पूर्व मीमांसादर्शन के अनुसार 'अपने आप में किसी शब्द का किसी अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं किन्तु संकेत के द्वारा ही कोई शब्द किसी अर्थ का बोध करवाया करता है जिससे यही निष्कर्ष निकल सकता है कि संकेत के कारण ही कोई शब्द किसी अर्थ का वाचक हो सकता है न कि स्वतः ।

मीमांसकों के अनुसार और साथ ही साथ वैयाकरणों की भी दृष्टि में 'शक्ति' और 'संकेत' एक नहीं अपितु दो भिन्न वस्तुएँ हैं । शक्ति संकेत नहीं किन्तु संकेत ग्राह्य है । शब्द में अभिधा शक्ति है यह बात संकेत के जानने से जानी जा सकती है । शक्ति अथवा अभिधा संकेत नहीं है—

संकेतग्राह्यं शक्त्याख्यपदार्थान्तरमभिधा ।

विश्वनाथ की अभिधा की परिभाषा देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने संकेत और अभिधा को भिन्न-भिन्न माना है । 'उन-उन संकेतित अर्थों

का बोधन कराने वाली शब्दशक्ति है, वह अभिधा कहलाती है। इस प्रकार 'शक्ति' और 'अभिधा' शब्द पर्याय नहीं हैं।

विश्वनाथ ने अलंकारशास्त्र में मान्य तीन उपायों का ही विवेचन किया है। इन उपायों से जिस संकेत का ग्रहण हुआ करता है उसके चतुर्विध क्षेत्र हैं—जैसे कि (१) जाति, (२) गुण, (३) द्रव्य और (४) क्रिया।

(१) **जाति**—संकेत-क्षेत्र में जाति वह है जिसे पदार्थ का प्राणप्रद नित्य वस्तु धर्म कहा करते हैं जिसे 'गौ' आदि व्यक्तियों में 'गोत्व' आदि के रूप में देखा जाया करता है।

(२) **गुण**—यह नित्यवस्तु धर्म है और इसके द्वारा सजातीय वस्तु व्यक्तियाँ एक दूसरे से पृथक् रूप में पहचानी जाया करती हैं। उदाहरण के लिए शुक्ल आदि गुण। ये शुक्ल आदि गुण ऐसे वस्तुधर्म हैं जो नित्य हैं, वस्तु व्यक्तियों में समवेत रहा करते हैं और जिनसे शुक्ल वर्ण वाली वस्तु-व्यक्तियाँ कृष्णादि-वर्णवाली वस्तु-व्यक्तियों से व्यावृत्त की जाया करती हैं जैसे कि गोव्यक्ति का शुक्ल गुण उसे सजातीय कृष्णादिवर्ण वाली गोव्यक्तियों से व्यावृत्त किया करता है।

(३) **द्रव्य**—द्रव्य वह है जिसे वस्तु-व्यक्ति की संज्ञा कह सकते हैं और ऐसे शब्द जैसे कि हरिहर, डित्थ, डवित्थ आदि द्रव्यवाचक अथवा संज्ञावाचक शब्द माने जाते हैं क्योंकि ये एक ही व्यक्ति के वाचक होते हैं।

(४) **क्रिया**—क्रिया उसे कहते हैं जो एक ऐसा वस्तु-धर्म है जो सिद्ध नहीं अपितु साध्य रहा करता है, जैसे कि 'पाक' शब्द क्रियावाचक है, अभी तक कार्य कलाप सम्पन्न न होने का सूचक है। अधि श्रयण से लेकर अवश्रयण तक के क्रमशः होने वाले कार्यकलापों को 'पाक' क्रिया के अन्तर्गत समझना चाहिये।

विश्वनाथ का मत है कि जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में वस्तुतः व्यक्तियों की चतुर्विध उपाधियाँ हैं और इन्हीं में शब्दों का संकेत ग्रह सम्भव है, न कि व्यक्तियों में। व्यक्तियों में संकेत ग्रह से आनन्त्य दोष होता है क्योंकि कहाँ तो 'गो' शब्द एक ओर कहाँ गोव्यक्तियाँ अगणित। यदि एक किसी गोव्यक्ति में गोपद का संकेत ग्रह हो चुके तो अन्य गोव्यक्तियाँ जहाँ संकेत ग्रह नहीं हुआ, 'गो' पद से अभिहित नहीं हो सकतीं क्योंकि तब व्यभिचार दोष हो जावेगा।

उपाधिशक्तिवाद—वैय्याकरणों का मत उपाधिशक्तिवाद है। इसमें शब्दों की 'चतुष्टयी प्रवृत्ति' मानी गई है। महर्षि पतञ्जलि का कथन है कि—

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति।

भाषा की समस्त शब्द राशि का विभाजन इस प्रकार है—

(१) जाति शब्द, (२) गुण शब्द, (३) क्रिया शब्द, (४) द्रव्य शब्द।

'जाति' प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुधर्म है, अथवा वस्तु-संस्थान विशेष के द्वारा अभिव्यङ्ग्य है। इस वस्तुधर्म को 'पदार्थ का प्राणप्रद' कहते हैं, क्योंकि इसी के द्वारा शब्द व्यवहार योग्य होता है।

उपाधि शक्तिवाद के अनुसार गौ, शुक्ल, चल और डित्थ इन चतुर्विध शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा का उपाधि-चतुष्टय हुआ करता है, जिसकी दृष्टि से न तो इनमें पर्याय शब्द का ही भ्रम सम्भव है, और न प्रयोग-सांकर्य की ही कोई सम्भावना है।

उपाधि शक्तिवाद की दृष्टि में शब्द का 'जाति' रूप प्रवृत्ति निमित्त वह नित्य एक अथवा 'अनेकानुगत सामान्य' रूप धर्म है, जिसके कारण पदात्मक शब्दों का एक महासमुदाय 'जातिवाचक' शब्द के रूप में पृथक् पहचाना जाया करता है। जाति और व्यक्ति दोनों की प्रतीति शब्द से होती है, किन्तु एक साथ नहीं। शब्द से जातिरूप अर्थ ही अभिहित होता है, और यह विशेषणरूप अर्थ अपने विशेष्यरूप अर्थ का आक्षेप कर लेता है, क्योंकि व्यक्तिरूप अर्थ का अवगम जातिरूप अर्थ के अवबोध के बिना नहीं हो सकता।

उपाधि शक्तिवाद के अनुसार गुण वस्तुधर्म है, जिसे पदार्थों का विशेषाधान हेतु कहा गया है। जाति और गुण भिन्न हैं, किन्तु दोनों नित्य हैं। गुण वह धर्म है, जो द्रव्य पर आश्रित रहता है, अपने आश्रयभूत द्रव्य से भिन्न होता है, और भिन्न जातीय द्रव्यों में ही दिखायी देता है।

उपाधि शक्तिवाद के अनुसार क्रिया ऐसा वस्तु धर्म है, जो साध्य है, इसलिए क्रिया को भावना भी कहा जाता है।

व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया।

डित्थ आदि शब्द तो यदृच्छा शब्द ही माने जायेंगे क्योंकि इन शब्दों में इनका कोई अर्थगत प्रवृत्तिनिमित्त नहीं रहा करता। ये शब्द तो एकमात्र वक्ता के द्वारा केवल अपनी इच्छा से ही व्यक्तियों में संकेतित रहा करते हैं। विश्व-

नाथ कविराज ने संकेतग्रह के विषय में उपाधिशक्तिवाद की मान्यता को स्वीकार किया है।

अङ्क और गर्भाङ्क

प्रश्न ४५—विश्वनाथ द्वारा निरूपित अङ्क तथा गर्भांक के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

उत्तर—अङ्क—विश्वनाथ ने नाटकीय परिच्छेद अङ्क का स्वरूप और महत्व इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—

प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः।
भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः ॥६।१२
विच्छिन्नावान्तरैकार्थः किञ्चित्संलग्नबिन्दुकः।
युक्तो न बहुभिः कार्यैर्बीजसंहृतिमान्नच ॥६।१३

अर्थात् अङ्क नाटक का वह अवच्छेद अथवा अन्तर्विभाग है, जिसमें सामाजिकों की दृष्टि नायक चरित का साक्षात्कार किया करती है, जिसमें रसभावों का अभिव्यञ्जन सौन्दर्य स्पष्ट प्रतीति हुआ करता है। अङ्क में शब्द से अर्थ और अर्थ से कवि हृदय स्वभावतः झलका करता है. जिसमें असमस्त पदयोजना की एक शोभा दिखाई दिया करती है। अङ्क में आधिकारिक वृत्त का एक अंश समाप्त रहा करता है, और अग्रिम इतिवृत्त की आकांक्षा के उत्थापक वृत्त की सूक्ष्म सूचना दी गयी रहती है। अङ्क में नायक के कतिपय कार्यों की ही योजना की जाती है। अङ्क में बीज अर्थात् नाटक के पार्यन्तिक रस भोग के अंकुर की इतिश्री नहीं दिखायी जाया करती है।

नानाविधानसंयुक्तो नातिप्रचुर पद्यवान्।
आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः ॥६।१४
नानेकदिन निर्वर्त्यकथया संप्रयोजितः।
आसन्ननायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा ॥६।१५

अर्थात् अङ्क में अनेकानेक घटना-चक्रों का वर्णन रहता है, और श्रव्यकाव्य की भाँति पद्यों की भरमार नहीं रहती। अंक में नायकादि के नित्यादि कर्मों के अनुष्ठान के विरुद्ध कर्मों का निरूपण नहीं किया जाया करता है। इसमें ऐसी कथा की रचना नहीं होती जो कई दिन तक चले जिसमें नायक चरित साक्षात् चित्रित न होने पर भी, यत्र-तत्र अभिव्यङ्ग्य रूप से विराजमान रहता है। अङ्क में तीन या चार पात्रों के अभिनय का आनन्द लिया जाता है।

दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः ।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा ॥६।१६
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद्व्रीडाकरं च यत् ।
शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधननम् ॥६।१७
स्नानानुलेपने चैभिर्वजितो नास्ति विस्तरः ।
देवीपरिजनादीनाममात्य वणिजामपि ॥६।१८
प्रत्यक्ष चित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः ।
अन्तनिष्क्रान्त निखिल पात्रोऽङ्क इति कीर्तितः ॥६।१६

अङ्क में वर्जित-विधान का निरूपण करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है, दूराह्वान, मारकाट, लड़ाई, राजविप्लव, देश-विद्रोह, विवाह, भोजन, शाप, मलमूत्र त्याग, मृत्यु, रतिक्रीड़ा, दन्तक्षत, नखक्षत, अन्यान्य लज्जास्पद विषय, शयन, अधरपान, नगर अथवा दुर्ग का उपरोध, स्नान, अनुलेपन आदि आदि अरञ्जक किंवा अरसास्पद विषयों का वर्णन नहीं किया जाता। अङ्क में राज-महिषी, राजपरिच्छद, राजामात्य, राजनगर, श्रेष्ठी आदि आदि के प्रत्यक्ष किंवा मनोरंजक ऐसे चित्र खिंचे रहते हैं, जो रसों किंवा भावों के स्वभावतः आविर्भावक लगा करते हैं, और जिसके अन्त में सभी पात्र अपना-अपना अभिनय समाप्त कर रंगमंच से निकलते दिखाई दिया करते हैं।

इस प्रकार अङ्क रूपकों के अवच्छेद अथवा अन्तःखण्ड का नाम है—

अवस्थायाः समाप्तिर्वाच्छेदो वा कार्ययोगतः ।

अङ्क का बिन्दु युक्त होना आवश्यक है। उसमें नाटक के पूर्व और उत्तर अवच्छेदों की सम्बद्धार्थकता का संरक्षण रहता है। अंक का एक अर्थ गोद भी है। नाटक के एक-एक अवच्छेद रस भावों के लालन-पालन के लिये गोद का काम किया करते हैं, इसलिए भी इन्हें अङ्क कहते हैं। रसार्णवसुधाकर में लिखा भी है—

रसालंकारवस्तूनामुपलालन कांक्षिणाम् ।
जनकांकवदाधारभूतत्वादकं उच्यते ॥३।१६७

गर्भाङ्क—गर्भाङ्क अङ्कान्तर्गत अंक कहलाता है। विश्वनाथ ने लिखा है—

अङ्कोदरप्रविष्टो यो रंगद्वारा मुखादिमान् ।
अंकोऽपरः स गर्भाङ्क सबीजः फलवानपि ॥६।२०

अर्थात् किसी नाटक के एक अंक के अन्तर्गत रहने वाले दूसरे अंक का नाम गर्भाङ्क है। इसमें भी अंक की भांति सूत्रधारकृत मंगलाचरण किंवा प्रस्तावना आदि अनिवार्य हैं। इसमें भी बीजरूप इतिवृत्तार्थ किंवा नायक के प्रधान प्रयोजन का अंशतः उपन्यास आवश्यक है।

गर्भाङ्क भी एक उपाय ही है, जिसे नाटककार सूच्य वस्तु के अल्पतम काल-व्यापी होने पर अपनाया करता है। गर्भांक के तीन उद्देश्य हैं—

(१) रसोत्कर्ष के लिए—उत्तररामचरित नाटक में।

(२) नायकोत्कर्ष के लिए—बालरामायण नाटक में।

(३) वस्तूत्कर्ष के लिए—अमोघराघव नाटक में।

रस-नायक-वस्तूनां महोत्कर्षाय कोविदैः।
अंकस्य मध्येयोऽङ्कः स्यादयं गर्भाङ्कईरित॥

निष्कर्ष—अंक में तो मुख्य अथवा सरस वस्तु का ही विनिवेश किया जाया करता है, किन्तु अन्य जो वस्तु-प्रकार है, जैसे कि सूच्य, प्रयोज्य, अभ्यूह्य और उपेक्ष्य इनके उपन्यास के लिए विष्कम्भक, प्रवेशक आदि उपायों का आश्रय अपेक्षित माना जाता है। गर्भांक सूच्यवस्तु के अल्पतम काल-व्यापी होने पर अपनाया जाने वाला उपाय है।

प्रस्तावना या आमुख

प्रश्न ४६—प्रस्तावना का स्वरूप एवं प्रकारों का निरूपण साहित्यदर्पण के आधार पर कीजिए।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में आमुख का विवेचन करते हुए लिखा है कि 'रूपकों की प्रस्तावना वस्तुतः वह आमुख है जिसमें नटी अथवा विदूषक अथवा पारिपार्श्विक सूत्रधार के साथ ऐसा आलाप-संलाप किया करते हैं जिसमें प्रस्तुत अभिनय का आक्षेप करने वाले, स्वस्वविषयक अभिप्राय के सूचक चित्र-विचित्र वाक्यों का प्रयोग हुआ करता है—

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥६।३१
चित्रैर्वाक्यै स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥६।३२

सूत्रधार का अभिप्राय स्थापक है। स्थापक भी सूत्रधार सदृश नट होने के कारण 'सूत्रधार' ही कहा जाया करता है। पारिपार्श्विक का अभिप्राय

स्थापक अर्थात् सूत्रधार के अनुचर नट का अभिप्राय है। पारिपार्श्विक अनुचर नट होता है, अतः यह नट स्थापक की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण हुआ करता है।

डा० सत्यव्रतसिंह के शब्दों में 'आमुख' का सरलार्थ सूत्रधार के साथ नटी अथवा विदूषक अथवा पारिपार्श्विक अथवा तीनों का प्रस्तुताक्षेपी भाषण है जो स्पष्ट अथवा वक्र दोनों प्रकार का हो सकता है।

प्रस्तावना अथवा आमुख ये पाँच प्रकार होते हैं—

(१) **उद्घात्यक अथवा उद्घातक**—इसमें सामाजिक, स्थापक-प्रयुक्त अनिश्चितार्थक पदों के साथ पत्र-प्रयुक्त निश्चितार्थक पदों की योजना करके स्थापक के अभिप्रेत अर्थ का निर्धारण किया करते हैं। उदाहरण मुद्राराक्षस की प्रस्तावना।

(२) **कथोद्घात**—यह वह प्रस्तावना प्रकार है जिसमें सूत्रधार के प्रयुक्त वाक्य का उच्चारण करते हुए या उसके अर्थ का अनुशीलन करते हुए किसी पात्र का नाटक-प्रयोग के हेतु रङ्गमञ्ज पार प्रवेश हुआ करता है। जैसे रत्नावली की प्रस्तावना जहाँ सूत्रधार 'द्वीपादन्यस्मादपि' आदि वाक्य बोलता है और नेपथ्य से यौगन्धरायण 'साधु भरतपुत्र' बोलते हुए 'द्वीपादन्यस्मादपि' आदि के पुनरूधारण के साथ प्रवेश करता है।

कथोद्धत प्रस्तावना में कथा अथवा काव्यार्थ का पहले ही पता चल जाता है।

डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि 'उद्घात्यक प्रस्तावना में तो पात्र, सूत्रधार के अभीष्टार्थक पदों को भिन्न अर्थ में लेकर रंगमंच पर आया करता है और 'कथोद्घात' प्रस्तावना में, सूत्रधार के ही अभिप्रेत अर्थ को, ठीक पकड़कर, पात्र का प्रवेश हुआ करता है।

(३) प्रयोगातिशय वह प्रस्तावना प्रकार है जहाँ सूत्रधार स्वयं आरब्ध प्रस्तावना-रूप कृत्यानुष्ठान का अतिक्रमण करके नाट्यात्मक प्रयोग प्रस्तुत कर दिया करता है।

> **यदि प्रयोग एकस्मिन प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते।**
> **तेन पात्रप्रवेशश्चेत्प्रयोगातिशयस्तदा॥** ६।३६

इसका उदाहरण 'कुन्दमाला' नाटक की प्रस्तावना है। भरतमुनि का निरूपण इस प्रकार है—

प्रयोगे तु प्रयोगं तु सूत्रधारः प्रयोजयेत् ।
ततश्च प्रविशेत् पात्रं प्रयोगातिशयोहि सः ।।२२।३६

अर्थात् जहाँ सूत्रधार प्रस्तावना रूप एक प्रयोग अथवा कृत्यानुष्ठान में नाट्यात्मक अन्य प्रयोग अथवा कृत्यानुष्ठान कर दे और पात्र का प्रवेश हो, वहाँ जो प्रस्तावना होती है वह प्रयोगातिशय कही जाती है ।

(४) प्रवर्तक प्रस्तावना प्रकार में सूत्रधार नाट्य प्रयोग के समय वसन्त आदि ऋतु का वर्णन किया करता है और पात्र उस वर्णन की श्लेषभङ्गी के आधार पर रंगमंच पर आ पहुँचता है—

कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत् ।
तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्तकम् ।।६।३७

(५) अवगलित वह प्रस्तावना भेद है जहाँ सूत्रधार अपने प्रस्तावनानुष्ठान रूप एक प्रयोग में नाट्यारम्भ-रूप अन्य प्रयोग की भी युक्तिपूर्वक योजना कर दिया करता है और पात्र का प्रवेश हो जाता है । यथा अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में अभिनवगुप्त का कथन है कि 'जहाँ सूत्रधार के अन्यार्थक वचन से अन्य कार्य भी सम्पन्न हो जाय वहाँ 'अवगलित' नामक आमुख भेद हुआ करता है ।

कुछ महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ

(१) चतुर्वर्गफल प्राप्तिर्हि काव्यतो 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव ।

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद से उद्धृत हैं । काव्य-प्रयोजन के निरूपण के प्रसंग में कविराज ने चतुर्वर्ग प्राप्ति रूप काव्य-प्रयोजन का तात्पर्य बताते हुए उपर्युक्त पंक्तियाँ प्रस्तुत की हैं ।

पुरुषार्थ चतुष्टय प्राप्ति रूप काव्य-प्रयोजन वस्तुतः सर्वविदित है । यह सर्वविदित है कि काव्य उपदेश दिया करता है, राम के ऐसा आचार-व्यवहार बनाओ, रावण के ऐसा आचार-व्यवहार न बनाओ ।' काव्य का यह उपदेश चतुर्वर्ग-प्राप्ति का अन्यतम उपाय है क्योंकि—

(१) यह उपदेश 'कृत्य' धर्मादिरूप कर्त्तव्य-कर्म की ओर हमारी प्रवृत्ति का कारण है ।

(२) यह उपदेश 'अकृत्य' अधर्मादिरूप अकर्तव्य-अकर्म की ओर से हमारी निवृत्ति का कारण है।

अपने इस कथन के समर्थन में विश्वनाथ ने भामह की एक सूक्ति भी प्रस्तुत की है, जिसका तात्पर्य है कि 'सत्काव्य' का अनुशीलन अथवा निर्माण एक ऐसी वस्तु है जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का तात्त्विक ज्ञान हुआ करता है, कलाओं में व्युत्पत्ति बढ़ती है, विदग्ध अथवा सहृदय होने का सुयश मिलता है तथा हृदय का आह्लाद प्राप्त होता है।

इस प्रकार काव्य ऐसा सरस उपदेश है जो चतुर्वर्ग की प्राप्ति का अन्यतम उपाय है।

(२) चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतय दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते। परमानन्दसंदोह जनकतया सुखादेव सुकुमार बुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव।

व्याख्या—काव्यप्रयोजन का निरूपण करते हुए विश्वनाथ कविराज का कथन है कि चतुर्वर्ग की प्राप्ति का सरल एवं सुखद साधन काव्य ही है। यों तो चतुर्वर्ग की प्राप्ति वेदादिशास्त्र से भी होती है और वे पुरुषार्थ चतुष्टय के प्रापक माने गये हैं किन्तु उनमें काव्य का सा रस नहीं मिला करता और इसलिए उनके द्वारा पुरुषार्थ चतुष्टय की जो प्राप्ति है वह एक दुःखद साधना है और प्रौढ़बुद्धि लोगों के लिए ही सम्भव है। काव्य तो परमानन्द संदोह रस का जनक है और इसलिए काव्य से जो पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हुआ करती है वह एक सुखद साधना है और सुकुमार बुद्धि वाले लोगों के सामर्थ्य के अनुरूप है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि परिपक्व बुद्धि वालों के लिए काव्य की कोई उपयोगिता नहीं।

विश्वनाथ कविराज ने शास्त्र के अधिकारियों को परिणतबुद्धि और काव्य के सामाजिकों को सुकुमार बुद्धि मानकर दोनों के व्यक्तित्व का भेद स्वीकार किया है। विश्वनाथ कविराज की समीक्षा में 'शास्त्र' और 'काव्य' के अधिकारियों के वैयक्तिक भेद-भाव को भी प्रमाणित करती प्रतीत होती है। रुद्रट ने भी काव्यालंकार में लिखा है—

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वगे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्तेहि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥१६।१

(३) एतेन अनलङ्कृती पुनः क्वापि इति यदुक्तम्, तदपि परास्तम्। अस्यार्थः-सर्वत्र सालङ्कारौ कचित्त्वस्फुटालंकारावपि शब्दार्थौ काव्यमिति। तत्र सालंकारशब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षधायकत्वात्।

व्याख्या—विश्वनाथ ने काव्य-स्वरूप-विवेक की भूमिका के रूप में मम्मट कृत काव्य लक्षण का निर्देश करते हुए उसका खण्डन किया है। मम्मट के काव्यप्रकाश में काव्य लक्षण इस प्रकार है—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

विश्वनाथ का कथन है कि तददोषौ शब्दार्थौ अर्थात् दोषरहित शब्दार्थ युगल को काव्य मानने में अव्याप्ति दोष है। तदनन्तर वे 'सगुण' शब्दार्थ युगल को काव्य मानने में अनुपपत्ति बताते हैं। क्योंकि शब्दार्थ युगल की सगुणता तब मानी जाय जब 'गुण' शब्द और अर्थ के धर्म माने जा सकें। गुण तो एकमात्र रस के धर्म हैं।

प्रस्तुत पंक्तियों में विश्वनाथ का कथन है कि मम्मट के काव्य-लक्षण में शब्द और अर्थ को 'अनलंकृती पुनः क्वापि' सर्वत्र अलंकृत किन्तु कदाचित अनलंकृत कहना भी उचित नहीं है। अनलंकृती पुनः क्वापि का अर्थ क्या है ? यही न कि सर्वत्र तो अलङ्कारसहित शब्दार्थयुगल काव्य है ही किन्तु कहीं-कहीं ऐसा भी शब्दार्थयुगल काव्य ही समझना चाहिए जहाँ कोई भी अलङ्कार स्फुटतया दिखाई न दें। अब जहाँ तक सर्वत्र 'अलंकृत शब्द और अर्थ को काव्य मानने का आग्रह है, यह उचित नहीं क्योंकि अलंकृत शब्द और अर्थ काव्य के स्वरूपाधायक नहीं—काव्यरूप नहीं—अपितु एकमात्र काव्य के उत्कर्षाधायक हुआ करते हैं—काव्य की उत्कृष्टता के साधन हैं, इन्हें काव्य-लक्षण नहीं माना जा सकता।

डा० सत्यव्रतसिंह ने विश्वनाथ द्वारा किये खण्डन को उचित नहीं माना है। उन्होंने लिखा है कि "आचार्य मम्मट की काव्य-परिभाषा में शब्दार्थयुगल 'सर्वत्र अलंकृतता तथा साथ ही साथ यथास्थान अलङ्कारशून्यता' की जो बात है उसकी आलोचना भी सर्वत्र चतुरस्र नहीं। इसका कारण यह है कि विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के अक्षरों को पकड़कर मम्मट के कान खींचे हैं न कि उनके आशयों को पकड़ कर। शब्दार्थ युगल रूप काव्य की सर्वत्र अलंकृतता का जो मम्मट का मत है उसमें यह निःसन्दिग्ध है कि 'रसभाव विवक्षा' का रहस्य छिपा है और इसी प्रकार 'शब्दार्थयुगल की यत्र कुत्रचित् अलङ्कार-

ून्यता' में भी यही 'रसभाव विवक्षा' झाँक रही है। तब भला मम्मट के इस ूढ़ाशय को भुलाकर 'सर्वत्र अलंकृतता' की दोषोद्भावना किस उद्देश्य से सिद्धि हो सकती है ?"

विश्वनाथ ने अपने काव्य-लक्षण को प्रस्तुत करते हुए मम्मट के काव्य-लक्षण का खण्डन किया है। उनके काव्य-लक्षण के प्रत्येक पद का खण्डन करने के उपरान्त उन्होंने अन्य आचार्यों की काव्य-परिभाषाओं का भी एक रौ में खण्डन करके अपनी काव्य-परिभाषा प्रस्तुत की है।

(४) यत्तु वामनेनोक्तम्—'रीतिरात्मा काव्यस्य' इति, तन्नः रीतेः संघटना विशेषत्वात्। संघटनायाश्चावयव-संस्थानरूपत्वात् आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात्।

व्याख्या—विश्वनाथ ने मम्मट के काव्य-लक्षण का खण्डन किया, तदुपरांत अन्य आचार्यों के काव्य-लक्षणों का भी खण्डन कर दिया। उन्होंने वामन के निम्नांकित काव्य-लक्षण का भी खण्डन कर दिया—

रीतिरात्मा काव्यस्य।

—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति

आचार्य वामन का यह कथन है कि 'रीति ही काव्य का आत्मतत्त्व-सारतम पदार्थ है' कदापि युक्तियुक्त नहीं है। रीति क्या है? रीति है एक संघटना-विशेष ऐसी पदरचना जो गुणवती हो। संघटना का तात्पर्य एक अङ्ग-विन्यास-विशेष है। जो आत्मतत्त्व है, वह अङ्ग रचना नहीं, शरीरसंस्थान विशेष नहीं, अपितु उससे सर्वथा विलक्षण वस्तु है। अब जबकि रीतिकाव्य की अङ्गरचना है तो उसे काव्य का आत्मतत्त्व क्योंकर माना जावे।

वामन के अनुसार रीति विशिष्ट पदरचना है और पद की रचना की विशेषता माधुर्यादिगुणों पर निर्भर है। यह गुण विशिष्ट पदरचना (रीति) ही काव्य की आत्मा है। वामन के इस रीत्यात्मवाद की विशद् आलोचना ने आत्मवाद का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। ध्वनिवादी आलङ्कारिकों ने इसका खण्डन किया और साहित्यदर्पणकार ने उसका समर्थन किया है।

(५) वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्ति युक्तः पदोच्चयः।

व्याख्या—साहित्यदर्पण के द्वितीय परिच्छेद में विश्वनाथ कविराज ने अपने काव्यलक्षण में आए हुए 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' में वाक्यं का रूप स्पष्ट किया है। 'वाक्य ऐसे पदों का समूह है जिसमें योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति का रहना अनिवार्य है।'

वाक्य पदसमूह है। इसकी प्रथम विशेषता योग्यता है। योग्यता पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में किसी बाध अथवा विरोध (अनुपपत्ति) का अभाव है। इस विशेषता के अभाव में पदसमूह वाक्य नहीं बन सकता। यदि ऐसा सम्भव होता तो 'वह्निना' सिञ्चति (आग से सींच रहा है) भी वाक्य कहलाता है।

वाक्य रूप पदोच्चय की दूसरी विशेषता है आकांक्षा अर्थात् एक-एक पदों के अर्थ की प्रतीति में अभिप्रेत-प्रतीति की समाप्ति का अभाव। इसे श्रोता की जिज्ञासा कहते हैं जो एक पद से अन्वित दूसरे पद को ढूँढा करती है क्योंकि यदि परस्पर निराकांक्ष अर्थ वाले भी पदसमूह वाक्य माने जाने लगे तब तो ऐसे भी पदसमूह वाक्य होने लगेंगे—गौरश्वः पुरुषो हस्ती (गौ, अश्व, पुरुष, हाथी)।

वाक्यरूप पदकदम्ब की तीसरी विशेषता आसत्ति है। यह है किसी अभिप्रायः के उपस्थापक पदार्थों की विच्छिन्न अथवा व्यवहित उपस्थिति। इसके बिना भी कोई पदोच्चय वाक्य कहा जाने लगे तब तो अभी बोले गए देवदत्त पद और दूसरे दिन बोले गये गच्छति पद का मिलान भी वाक्य हो जावेगा।

आसत्ति, आकांक्षा और योग्यता उपचार रूप से पदसमूह के धर्म हैं। आकांक्षा तो स्रोता का धर्म है, योग्यता पदार्थ-धर्म है।

(६) प्रयोजने यथा—आयुर्घृतम्। अत्रायुष्कारणमपि घृतं कार्यकारण भाव सम्बन्ध सम्बन्ध्यायुस्तादात्म्येन प्रतीयते। अन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेणायुष्करत्वं प्रयोजनम्।

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ साहित्यदर्पण के द्वितीय परिच्छेद के अन्तर्गत लक्षणा-निरूपण से प्रस्तुत की गई हैं। सारोपा और साध्यवसाना नामक अवान्तर भेदों का निरूपण करते हुए विश्वनाथ 'प्रयोजनवती सारोपा लक्षण-लक्षणा' का विवेचन कर रहा है।

प्रयोजन के प्रतिपादन में आरोप गर्भित लक्षण-लक्षणा का उदाहरण है—आयुर्घतम्—घी आयु है। यहाँ आरोप का अभिप्राय है—'घृत', जो दीर्घ जीवन का कारण है और आयु (दीर्घ जीवन), जो घृत के सेवन का परिणाम है। दोनों में तादात्म्य है, अभेद की प्रतीति है। यहाँ आयु शब्द अपने मुख्यार्थ दीर्घ जीवन का सर्वथा परित्याग कर इस मुख्यार्थ से कार्यकारण भावरूप सम्बन्ध से सम्बद्ध, 'आयु के कारण' रूप अर्थ का उपलक्षक हो रहा है। 'आयु-

घृतम्' कहने का उद्देश्य विशेष यह है कि अन्य पौष्टिक पदार्थों की अपेक्षा घृत की संजीवन शक्ति बहुत अधिक है।

लक्षणा के सारोपा होने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की लक्षणा आरोप के विषय और उसके विषयी में ऐसा अभेद बतलाया करती है जिसमें 'विषय' का स्वरूप 'विषयी' के द्वारा ढँका-ढँकाया नहीं प्रतीत हुआ करता। सारोपा लक्षणा रूपक अलङ्कार का बीज है। यह अलङ्कारशास्त्र की परम्परागत मान्यता है।

(७) नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः।३।२०

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्ति साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद के रस-स्वरूप-निरूपण प्रकरण से ली गई है। विश्वनाथ का कथन है कि रस को ज्ञाप्य कहना असम्भव है क्योंकि ज्ञाप्य वस्तु का यह स्वभाव होता है कि वह अपने अस्तित्व को रखते हुए भी कभी अज्ञात रह सकती है। रस ज्ञाप्य नहीं है क्योंकि उसके सम्बन्ध में यह सम्भव नहीं कि उसका अस्तित्व तो हो किन्तु उसका अनुभव न हुआ करे।

घट-पट आदि ज्ञाप्य हैं किन्तु कभी-कभी ज्ञान-सामग्री के अभाव में इनका ज्ञान नहीं होता। रस ऐसी वस्तु नहीं है जो कि रहे किन्तु कभी पता न चले। रस की सत्ता तो अनुभूति में ही है। रस एक 'रस्यमानतैकप्राण' अनुभव है। रस कोई प्रमेय रूप पदार्थ नहीं जिसकी अपेक्षा विभावादि को प्रमाण अथवा ज्ञापक माना जाय। रस को ज्ञाप्य मान लेने पर तो काव्य-नाट्य की लोक-विलक्षणता ही समाप्त हो जावेगी और रस के अधिकारियों में सहृदयता की विशेषता का कोई भी अर्थ न निकलेगा।

(८) रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्योः ।।३।२९

व्याख्या—विश्वनाथ कविराज ने रसानुभव के कारण विभाव आदि की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'लोक में जो-जो पदार्थ लौकिक रत्यादि भावों के उद्बोधक हुआ करते हैं, वे ही काव्य-नाट्य में निविष्ट होने पर 'विभाव' कहे जाया करते हैं।

लोकगत राम-सीतादि की वास्तविकता तो निसंदिग्ध है ही किन्तु काव्य-नाट्यगत राम-सीतादिरूप विभावतत्त्व की वस्तु-सत्ता भी सिद्ध ही है। कवि और नाटककार राम-सीतादिरूप विभाव तत्त्व की जो भी शब्दमय रूपरेखा बनाया करते हैं, उसमें यह सामर्थ्य रहा करती है कि वह देश और काल के

आधार के बिना ही राम-सीतादि रूप पदार्थों को सामाजिक चित्र में उपस्थित कर दे। ऐसा होने से ही, इन बौद्धिक पदार्थों के साक्षात्कार के कारण ही, सामाजिक हृदय इनमें तन्मयता की साधना करने लग जाता है और रसास्वाद की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

काव्य-नाट्य-समर्पित सीतादि को इसलिए 'विभाव' कहा करते हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा सहृदय सामाजिकों की अनादि रत्यादि वासना रस रूप में अंकुरित होने में समर्थ बनायी जाया करती है। दशरूपककार का भी यही मत है कि प्रतिदिन के व्यावहारिक जगत् की वस्तुएँ अपने-अपने प्रतिनियत स्वभाव में नियन्त्रित रहा करती है। काव्य-नाट्य के क्षेत्र में इन्हीं वस्तुओं का ऐसा रूपान्तर हो जाया करता है जिससे इनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ लुप्त हो जाया करती हैं, इनका सामान्य स्वभाव स्फूर्तिमान हो उठता है और सामाजिक मात्र की भावना इन्हें वास्तविक बना दिया करती है। भावकचित्त की भूमि में विचारशील इन वस्तुओं से ही रस की निष्पत्ति सम्भव है न कि इनके लोकगत स्वरूप से। दशरूपककार का अभिमत है कि काव्य-नाट्य के क्षेत्र में जनकतनयादि विशेषताओं से शून्य, वस्तुतः साधारणीकृत, सीतादि को 'विभाव' कहा करते हैं। ऐसा इसलिये क्योंकि इसी से सामाजिक हृदय में रत्यादि वासनायें स्फुरित हुआ करती हैं।

(९) तत्राद्यो रसभावादिरेक एवऽत्र गण्यते।
एकोऽपि भेदोऽनन्तत्वात् संख्येयस्तस्यनैव यत्॥

व्याख्या—प्रस्तुत सूक्ति साहित्यदर्पण के चतुर्थ परिच्छेद से उद्धृत है। काव्य के प्रकारों का निरूपण करते हुए विश्वनाथ ने पहला भेद ध्वनिकाव्य बताया। ध्वनिकाव्य के दो भेद इस प्रकार हैं—(१) लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य और (२) अभिधामूलक ध्वनिकाव्य।

अभिधामूलक (विवक्षितान्यपरवाच्य) ध्वनिकाव्य के दो भेद होते हैं—(१) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि काव्य और (२) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि काव्य।

"असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि काव्य तो रसभावादिरूपध्वनि काव्य है और इसे एक प्रकार का ही माना जाया करता है, क्योंकि यदि इसके भेद किये जायँ तो एक-एक भेद में अनन्त भेद सम्भव हो जाते हैं जिनकी गणना असम्भव बन जाती है।" रस, भाव, आभास आदि असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि है। यदि

के आधार पर इसके अवान्तर भेदों का परिगणन किया जाने लगा तब तो भेद ही इतने प्रकारों का हो जाय कि गणना के परे पहुँच जाय ।

(१०) किञ्च यो दीपकतुल्ययोगितादिरूपमाद्यलङ्कारो व्यङ्ग्यः स गुणीभूतव्यङ्ग्य एव । काव्यस्य दीपिकाविमुखेनैव चमत्कारविधायित्वात् ।

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ विश्वनाथ के साहित्यदर्पण के चतुर्थ परिच्छेद से गुणीभूत व्यंग्य की अन्यान्य प्रकार सम्भावना के प्रसंग से यहाँ उद्धृत है। गुणीभूत व्यंग्य के विश्वनाथ ने आठ भेद बताए हैं। उनके अतिरिक्त भी गुणीभूत व्यंग्य की संभावना दीपक, तुल्ययोगिता आदि-आदि अलंकारों में उपमानोपमेय भाव का जो व्यंग्यार्थ है, उसमें स्पष्ट है। वह गुणीभूत व्यंग्यार्थ ही है क्योंकि दीपकादि अलंकार-काव्यों में जो भी चमत्कार है वह वहाँ के अभिव्यंग्य औपम्य के कारण नहीं वरन् दीपकादिरूप वाच्यविच्छित्ति के ही कारण प्रतीत हुआ करता है। ध्वनिकार का भी यही मत है कि दीपकादि वाच्य अलंकारों में किसी व्यंग्य अलंकार जैसे कि उपमादि की प्रतीति होने पर भी यदि काव्य व्यंग्यपरक अथवा व्यंग्योन्मुख न हो तो उसे 'ध्वनि' नहीं कहा जा सकता है, उसे तो गुणीभूत व्यंग्य ही कह सकते हैं। गुणीभूत व्यंग्य की दूसरी सम्भावना वह है जिसे किसी व्यंग्यार्थ की निगूढ़ता के चमत्कार का, किसी वाचक पद के प्रयोग द्वारा विपर्यास (गूढ़ व्यंग्य को अगूढ़ बना देना) कहा करते हैं।

(११) तन्न, यदि हि अव्यंग्यत्वेन व्यंग्या भावस्तदा तस्य काव्यत्वमपि नास्तीति प्रागेवोक्तम् । ईषद्व्यंग्यत्वमिति चेत्, किं नामेषद्व्यंग्यत्वम् ? आस्वाद्यव्यंग्यत्वम्, अनास्वाद्यव्यङ्ग्यत्वं ? आद्ये प्राचीन भेदयोरेवान्तः पातः । द्वितीये त्वकाव्यत्वम् । यदि चास्वाद्यत्वं तदाऽक्षुद्रत्वमेव क्षुद्रतायामनास्वाद्यत्वात् ।

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ चतुर्थ परिच्छेद के अन्तिम भाग से ली गई हैं। इनमें विश्वनाथ कविराज ने मम्मट द्वारा मान्य अवर संज्ञक चित्रकाव्य का खण्डन किया है। मम्मट ने चित्रकाव्य को काव्य का तृतीय प्रकार मानते हुए लिखा है—

शब्दचित्रं वाच्यचित्रम व्यङ्ग्यंत्ववरं स्मृतम् ।

अर्थात् 'काव्य का अवर (अधम) संज्ञक एक और भी प्रकार है, जो कि अव्यंग्य' प्रतीत हुआ करता है; और शब्द चित्रण अथवा अर्थ चित्रणरूप ही दिखायी दिया करता है।"

विश्वनाथ इस चित्र काव्यवाद को युक्तियुक्त नहीं मानते क्योंकि यदि शब्दार्थ युगल के अव्यंग्य होने का अभिप्राय, उसमें व्यंग्य का अभाव माना गया तब ऐसा शब्दार्थ युगल जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, (चित्र भले ही हो) काव्य नहीं हो सकता। अब यदि इस आपत्ति के बचाव के लिए, शब्दार्थ युगल के 'अव्यग्यंय' होने का तात्पर्य किञ्चिन्मात्रव्यङ्गय' (ईषदर्थकनञ्) बताया जाय, तब यह भी बताना होगा कि यह यत्किञ्चित्‌रूप-व्यङ्गय अनुभव योग्य होगा या नहीं ? यदि इसे अनुभव के योग्य या आस्वाद्य माना जाय, तब तो यह शब्दाथ युगल या तो ध्वनिकाव्य में अन्तर्भूत हो जावेगा या गुणीभूत-व्यङ्गय काव्य में यदि इसे अनुभव के अयोग्य (अनास्वाद्य) समझा जाय, तब यही कहा जावेगा कि ऐसा शब्दार्थ युगल काव्य ही नहीं है। किसी शब्दार्थ युगल के व्यङ्गयरूप अर्थ को हम आस्वाद्य और ईषत् नहीं कह सकते क्योंकि व्यङ्गय का ईषत् होना तो उसके अनास्वाद्य अथवा अनुभव के अविषय वस्तुतः अकाव्य प्रयोजक होने के बराबर है।

ध्वनिकार ने भी इस बात का समर्थन किया है, कि 'व्यङ्गयार्थ के प्राधान्य और अप्राधान्य ही शब्दार्थ युगल की काव्यता के प्रयोजक हैं। जिस शब्दार्थ युगल में व्यंग्यार्थ प्रधान हो वह ध्वनि रूप और जिसमें व्यङ्गयार्थ अप्रधान हो वह गुणीभूत व्यङ्गय काव्य माना जाता है। इन दो काव्य प्रकारों के अतिरिक्त जो भी शब्द योजना है, वह चित्र है, काव्य नहीं है। ऐसी रचनाओं को अव्यङ्गय या व्यंग्यशून्य रचना कहा जा सकता है। ऐसी रचनाएँ चित्र या काव्यानुकृति हैं—

न तन्मुख्यं काव्यं काव्यानुकारो ह्यसौ।

काव्य प्रकाशकार ने शब्द चित्र और अर्थ चित्र को चित्रकाव्य कहा है, किन्तु ये तो काव्यानुकृति रूप हैं, काव्याभासभूत हैं। ऐसी रचना रसात्मक कदापि नहीं हो सकती—

रसभावादि विषय विवज्ञा विरहे सति।
अलंकार निबन्धो यः स चित्रविषयो मतः।।'

—ध्वन्यालोकः ख उद्योत

काव्य का अभिप्राय तो रसमयी शब्दार्थ योजना है। रसभाव रहित रचनाएँ काव्य नहीं हो सकतीं। नीरस होने से ये चित्र हैं। जो चित्र है, वह

नहीं हो सकता। रसात्मकता तो काव्य सामान्य का स्वरूप है। ऐसी रचना जो काव्य-स्वरूप-शून्य हो, काव्य कैसे हो जाय।

(१२) गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तटाद्यर्थमात्र बोध विरताया लक्षणायाश्च शीतत्वपावनत्वादिव्यङ्ग्य बोधकता। तेन तुरीया वृत्तिरूपास्यैवेति विवादमेतत्।

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण के पञ्चम परिच्छेद ली गई हैं। इनमें कविराज ने लक्षणा में व्यञ्जना का अन्र्भाव अयुक्तियुक्त किया है। क्योंकि 'गंगायां घोषः' आदि लाक्षणिक प्रसंगों में जो शैत्य और नत्व आदि रूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हुआ करता है, उसे लक्षणा द्वारा प्रतीत ना असम्भव है। यहाँ लक्षणा केवल 'तट' आदि रूप अर्थ के अवबोध में विरतव्यापार हो जाती है, तब इससे, इस अर्थ से सर्वथा विलक्षण, शैत्य-नत्वादिरूप अर्थ का अवबोध क्योंकर होने लगे?

'गंगायां घोषः' आदि प्रसंगों में अर्थावबोध के विश्लेषण से यह स्पष्ट है, यहाँ लक्षणा का विषय कुछ है (तट रूप अर्थ) और व्यञ्जना का कुछ त्य पावनत्वादिरूप अर्थ)। लक्षणा शक्ति 'गंगा' पद के अमुख्य अर्थ के उप-पन में समर्थ है और व्यञ्जना द्वारा शैत्यपावनत्व आदि वक्ता के हृदयगत जन का प्रत्यायन हुआ करता है, गंगा शब्द में लक्षणा द्वारा शैत्यपावनत्वादि प्रतिपत्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि शैत्यपावनत्वादि रूप प्रयोजनों के यन में गंगाशब्द बाधित नहीं हुआ करता। लक्षणा तो मुख्यार्थ में जन्म ती है। अबाधित शैत्यपावनत्वादिरूप प्रयोजनभूत अर्थ की प्रतिपत्ति में लक्षणा क्या सम्भावना।

(१३) गोपुच्छाग्र समाग्रमिति 'क्रमेणाङ्काः सूक्ष्मा कर्तव्याः' इति केचित्। त्वाहुः—'यथा गोपुच्छे के चिद्वाला ह्रस्वाः केचिद्दीर्घास्तथेह कानिचित्का-णि मुखसंधौ समाप्तानि कानिचित्प्रति मुखे। एवमन्येष्वपि कानिचित्कानि-' इति।

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद से त हैं। यह पंक्तियाँ नाटक के स्वरूप निरूपण प्रकरण से अवतरित हैं। क के 'गोपुच्छाग्रसमान' होने का तात्पर्य कतिपय नाट्यकोविदों की दृष्टि उसके अङ्कों का क्रमशः छोटा होता जाना है। किन्तु अन्य नाट्य मर्मज्ञ

इसका जो अभिप्राय लेते हैं, वह इस प्रकार है—'जैसे गोपुच्छ में कुछ बाल कहीं छोटे होते हैं, और कहीं बड़े, वैसे ही नाटक में भी कुछ वृत्त-वर्णन अथवा चरित-चित्रण ऐसे हुआ करते हैं, जो मुख सन्धि में ही समाप्त हो जाया करते हैं, कुछ ऐसे, जो प्रतिमुख सन्धि में समाप्त होते हैं, और इसी भाँति कुछ गर्भ में, कुछ विमर्श में और कुछ निर्वहण में समाप्त हुआ करते हैं।'

नाटचदर्पणकार का अभिमत है, कि नाटक का प्रयोजन सरसोपदेश हुआ करता है। इसमें आशा-निराशा का द्वन्द्व आवश्यक है, न कि इच्छा मात्र से अभ्युदय-प्राप्ति। भरतमुनि ने भी नाटक की रचना को 'गोपुच्छाग्र' के समान होना उचित माना है—

कार्यं गोपुच्छाग्रं कर्त्तव्य काव्यबन्धमासाद्य।
ये चोदात्ताः भावास्ते सर्वे पृष्ठतः कार्याः ॥२०।४६

नाटक के 'गोपुच्छाग्रवत्' होने का वास्तविक अभिप्राय भरतमुनि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

गोपुच्छकेश कल्यानि नाटयवस्तूनि कल्पयेत्।
उदात्ता रञ्जका भावा स्थापनीया पुरः पुरः ॥

गोपुच्छ के समान नाट्यवस्तु की कल्पना करनी चाहिए, जो उदात्त, रजंक भाव से युक्त हो।

(१४) भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ॥६।२९

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्ति साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद से उद्धृत है। इसमें कहा गया है, कि भारतीवृत्ति नटों का वह वचन-व्यापार है, जो संस्कृत-प्रचुर हुआ करता है। वाग्व्यापार का अभिप्राय वाचिकाभिनय प्रधान वचन-विन्यास है, आङ्गिकादि अभिनय यहाँ अल्पमात्रा में हुआ करता है। भारती शब्द ही यह सिद्ध कर देता है, कि यह वृत्ति वाक्प्रधान वृत्ति है।

(१५) भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् ॥६।२२४
श्रृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्।
सापायधर्मकामार्थपरो धरिप्रशान्तकः ॥६।२२५

व्याख्या—प्रस्तुत सूक्तियाँ साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद के रूपक-भेद प्रसंग से अवतरित हैं। 'प्रकरण' नामक रूपक विशेष का लक्षण करते हुए विश्वनाथ का कथन है कि प्रकरण का—

(१) वृत्त लौकिक किंवा कवि-कल्पित हुआ करता है।

(२) शृंगार की अभिव्यंजना अङ्गी-रस के रूप में हुआ करती है।

(३) नायक विप्र, अमात्य और वणिक्-श्रेणी में से किसी एक का हो सकता है।

(४) नायक को धीरशान्त प्रकृति तथा विपरीत परिस्थिति में पड़े रहने पर भी धर्म-अर्थ और काम-परायण रूप में चित्रित किया जाया करता है।

उदाहरण, शूद्रकरचित मृच्छकटिक, जिसका नायक चारुदत्त एक ब्राह्मण है।

प्रकरण के अन्य उदाहरण पुष्पदूषित, तरङ्गदत्त।

प्रकरण की अन्य विशेषताएँ नाटक की जैसी हैं क्योंकि यह रूपक-प्रकार नाटक का ही निष्यन्दरूप है।

(१६) **पद्माद्याक्तारहेतुत्वे वर्णनां चित्रमुच्यते।**

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्ति विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण के दशम परिच्छेद से उद्धृत है। इसमें चित्रालंकार का स्वरूप विवेचन किया गया है।

'चित्र' वह शब्दालंकार है जिसे वर्णों के ऐसे विन्यासवैचित्र्य में देखा जाया करता है जिसमें पद्म आदि की रूपरेखा झलक जाया करती है।

चित्र को शब्दालंकार कहने में उपचार का आश्रय लिया जाया करता है। यहाँ 'उपचार' के आश्रय का अभिप्राय यह है कि वस्तुतः तो शब्दात्मकवर्ण आकाश के गुण हैं और समवाय सम्बन्ध से आकाश में ही रहा करते हैं और चित्रालंकार के रूप में जो वर्ण-विन्यास है वह पद्मादि रूप में रचित लिपिसन्निवेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं। किन्तु वैचित्र्याधायक लिपिसन्निवेशरूप वर्णों का वैचित्र्याधायक श्रोत्राकाश समवेत वर्णों से कोई भेद नहीं हुआ करता। इसलिए यह निश्चित ही है कि आकाशनिष्ट वर्णों को उपचारतः आकारनिष्ठ मान लिया जाय। इस प्रकार आकाश समवेत वर्णों का पद्माद्याकारनिष्ठ वर्णों से औपचारिक अभेद ही 'चित्रालंकार' के शब्दगत अलंकार होने का कारण है।

विश्वनाथ का कथन है कि भेद-प्रभेद सविस्तार नहीं बताया क्योंकि यह अलंकार एक ऐसी गाँठ का काम करता है जिससे रस का प्रवाह विच्छिन्न हो जाता है और सहृदय-हृदय उद्विग्न हो उठता है।

डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि 'प्रायः सभी अलंकारिकों ने 'चित्र' अलंकार की चर्चा की है। ध्वनिवादी आलङ्कारिक इसे आभ्यासिक कवि की रचना कहा करते हैं। चित्रालंकार का निर्माण-नैपुण्य काव्य की एक तान्त्रिक साधना है। इस साधना का अभ्यास प्रायः सभी संस्कृत के कवि कर चुके हैं। विश्वनाथ कविराज का चित्रालंकार-लक्षण 'अलंकार सर्वस्व' के इस चित्र-लक्षण का अनुसरण करता है—

वर्णानां स्वङ्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम् ।

चित्रालंकार का विशद् विवेचन सरस्वती कण्ठाभरणकार ने किया है। सरस्वती कण्ठाभरणकार के अनुसार 'चित्र' ध्वनि शून्य रचना नहीं जिससे वह आलेख्य की भाँति निर्जीव लगा करे।

●

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा